प्रकाशक—
अणुव्रत समिति,
१२२२, चन्द्रावल रोड,
सब्जी मण्डी,
दिल्ली।

अणुव्रत आन्दोलन के अष्टम वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर
तारीख १२ अक्तूबर को प्रकाशित।

मूल्य दो रुपया

मुद्रक—
कृष्ण प्रिन्टिङ्ग प्रेस,
घरखेधालान,
दिल्ली।

प्रकाशकीय

मनुष्य सौंदर्योपासक प्राणी है। वह अपने समस्त क्रिया-कलाप को कलात्मक करना चाहता है। भारतीय ऋषि-मुनियों व मनीषियों ने अन्तरतम की कला को संस्कृति के नाम से पुकारा है। अणुव्रत-आन्दोलन मानस-विशुद्धि की एक व्यवस्थित पद्धति है जिसमें कला, संस्कृति और सभ्यता का त्रिवेणी-संगम है। भारतीय इतिहास में यह महत्त्वपूर्ण घटना है जिसमें एक धर्माचार्य ने अपने ६५० साधु साध्वियों के विशाल संघ को सार्वजनिक नैतिक जागरण के कार्य में विशेष रूप से प्रवृत्त कर दिया है। आचार्य श्री तुलसी आध्यात्मिक जगत् की महान् विभूति हैं। जिन्होंने आज से आठ वर्ष पूर्व अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्तन कर भारतीय जनता का नैतिक पथ-प्रदर्शन किया।

मुनि श्री नगराज जी का इस आन्दोलन के साथ आदि से आज तक गहरा सम्बन्ध रहा है। आप आन्दोलन के प्रमुख व्याख्याकार के रूप से प्रसिद्ध हैं। इन आठ वर्षों का तो आपका अधिकांश समय आन्दोलन के विभिन्न पहलुओं पर चिन्तन, मनन व लेखन में ही व्यतीत हुआ है। आपके देहली, जयपुर व बम्बई प्रवास आन्दोलन के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। वर्षीय कार्यक्रम के आधार पर आपके तत्त्वावधान में अनेकानेक आयोजन हुए हैं जिनसे लगभग एक लाख विद्यार्थियों, हजारों व्यापारियों, मजदूरों व राजकर्मचारियों ने नैतिक प्रेरणाएं ली हैं। प्रस्तुत पुस्तक अणुव्रत जीवन-दर्शन में मुनि श्री नगराज जी ने आन्दोलन के मूलभूत सिद्धान्तों की

गहरी मीमांसा करने के साथ छात्र, मजदूर, व्यापारी, राजकर्मचारी आदि वर्गों में आये दिन होने वाली समस्याओं व अन्यान्य अनेकों महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर आन्दोलन का सूक्ष्मतम दृष्टिकोण उपस्थित किया है। पुस्तक की भाषा सरल है और प्रतिपादन अत्यन्त स्पष्ट है। भाषा की सरलता ने विचारों की गहराई को दुरूह नहीं बनने दिया है। मैं आशा करता हूँ हमारी दिल्ली अणुव्रत समिति का यह पहला प्रकाशन जनता की नैतिक-दरिद्रता को दूर करेगा और साहित्यिक क्षेत्र में अभिनव उपहार सिद्ध होगा।

मैं अ० भा० कांग्रेस कमेटी के महामंत्री श्री मन्नारायण के प्रति आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने अपनी व्यस्तता में भी समय निकाल कर इस पुस्तक पर भूमिका लिखने का कष्ट किया है।

सं० २०१४ आ० कृ० १४ — गोपीनाथ "अमन"

दिल्ली। — अध्यक्ष—अणुव्रत समिति, दिल्ली।

आचार्य श्री तुलसी को

जिनसे बहुत कुछ पाया है और बहुत कुछ पाता है।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन में ला० नानकराम जी गिरधारी लाल जी जैन ने नैतिक सहयोग के साथ आर्थिक योग देकर अपनी साहित्यिक सुरुचि का परिचय दिया है, जो सब के लिए अनुकरणीय है। हम अणुव्रत समिति की ओर से सादर आभार प्रकट करते हैं।

— मंत्री

भूमिका

मैं अणुव्रत आन्दोलन से बहुत प्रभावित रहा हूँ क्योंकि वह जीवन की छोटी से छोटी आवश्यक बातों पर जोर देता है। साधारणतया जीवन के छोटे कार्यों के प्रति हम अपने उत्तरदायित्व को भूल जाते हैं और बड़े बड़े कार्यों में ही बड़ी दिलचस्पी दिखाते हैं। तथ्य यह है कि जब तक हम अपने जीवन की छोटी बातों की ओर ध्यान नहीं देंगे तब तक महान् कार्यों में सफल नहीं हो सकेंगे।

अणुव्रत आन्दोलन में सम्मिलित होने वाले व्यक्ति व्रत लेते हैं। वे व्रत उनमें दैनिक जीवन के व्यावहारिक पहलुओं को छूते हैं। साथ ही साथ वे सत्य, अहिंसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्य के पालन की भी शपथ लेते हैं। इन प्रतिज्ञाओं में घूस, भ्रष्टाचार, अस्पृश्यता और आर्थिक शोषण के नियम भी सम्मिलित हैं। जनता का नैतिक स्तर ऊँचा उठाने के लिये इन सामाजिक व आर्थिक बुराइयों के प्रति हमारा ध्यान अधिक केन्द्रित होना चाहिये।

आज हम हमारे राष्ट्र के आर्थिक जीवन के निर्माण में जुटे हुये हैं, लेकिन हमें यह समझ लेना चाहिये कि नैतिक योजनाओं के बिना सिर्फ आर्थिक योजनायें प्रभावशाली नहीं बन सकतीं। मैं अणुव्रत आन्दोन को नैतिक संयोजन का एक क्रान्तिकारी कदम मानता हूँ। नैतिक विकास की योजना के बिना हमारी आर्थिक योजना के स्रोत सूख जायेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

अणुव्रत जैसे आन्दोलन में संख्या की अपेक्षा गुण विकास पर ध्यान रखना आवश्यक है। मुझे यह बताया गया कि अणुव्रत आन्दोलन का दृष्टिकोण ऐसा ही है। आत्मविश्वास व सचाई के साथ नैतिक नियमों का पालन करने वाले मुट्ठी भर व्यक्ति भी सामाजिक वातावरण को प्रभावित किये बिना नहीं रह सकते।

मुनि श्री नगराजजी ने इस पुस्तक में अणुव्रत आन्दोलन की सूक्ष्मतम भावनाओं का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। विवेचन स्पष्ट व उपदेशात्मक है। मैं आशा करता हूँ कि यह पुस्तक भारत में व विदेशों में भी सभी के लिये व्यावहारिक व उपयोगी सिद्ध होगी। मुझे दृढ़ विश्वास है कि अणुव्रत आन्दोलन लोगों के नैतिक स्तर को ऊँचा उठाने में सफल होगा और ठोस नींव पर "समाजवादी समाज व्यवस्था" की रचना में सहायक बन सकेगा।

श्री मन्नारायण

ता० १४—२—५७

लेखकीय

"अणुव्रत जीवन-दर्शन" की आदि व सम्पन्नता धरती और सागर के संगम पर हुई। मोहमयी (बम्बई) की सर्वोत्तम भ्रमण-भूमि चौपाटी का स्थान। एक ओर अरब समुद्र की तरफ अहर्निश झांकने वाला चौपाटी का सर्वोन्नत प्रासाद "फूलचन्द निवास"। उसकी पांचवीं मंजिल पर हम चार मुनि चातुर्मासिक स्थिति से रह रहे थे। "अणुव्रत जीवन-दर्शन" लिखने का प्रसंग चला। मुनि हर्षचन्द जी ने विनोद भाव से कहा—आप बोलें और मैं लिखूं, पर गणेश जी की तरह मेरी लेखनी बीच में रुके नहीं। मैंने कहा—तुम्हारे लिये गणेश हो जाना सहज है पर मेरे लिये व्यास होना सहज नहीं। कार्य प्रारम्भ हुआ। मैं उस असम्भव अनुष्ठान में प्रण-बद्ध नहीं था; तथापि मेरा वह भावुकीय मानस तो उस मृग-मरीचिका में उड़ान भरने ही लगा था। उसे लगता था हो सकता है व्यास के सूने पद की पूर्ति मेरे से ही होनी लिखी हो! व्यास बनू या न बनू पर लेखनी रुके नहीं यह ध्यान आदि से अन्त तक मुझे प्रेरणा दे रहा था। व्यास तो फिर भी नहीं बन पाया पर इस दौड़ में इतना लाभ अवश्य हुआ कि एक महीने के लगभग ६० घंटों में ही पुस्तक सम्पन्न हो गई। मानव के सहज भावों को गूंथना था क्योंकि अणुव्रत-अभियान जीवन-व्यवहार का ही तो दर्शन ठहरा। यहाँ मुझे सांख्य, योग, न्याय, जैन आदि दर्शनों की गम्भीर गुत्थियों को नहीं सुलझाना था।

प्रस्तुत पुस्तक पंच अणुव्रतों की व्यास्या मात्र है। व्याख्या की फिर व्याख्या अपेक्षित न हो, इसलिये भाषा सहज-गम्य रहे यह मुझे आदि से अन्त तक अभिप्रेत रहा है, फिर भी

भाषा के साहित्यिक स्तर में विश्वास रखते हुए मैं अपने संकल्प को कहाँ तक निभा पाया होऊँगा इसके निर्णायक पाठक ही होंगे।

"अणुव्रत जीवन-दर्शन" के मूल सूत्र 'आन्दोलन के प्रवर्तक आचार्य श्री तुलसी द्वारा निर्धारित पंच अणुव्रतों के ४२ नियमोपनियम' हैं। पुस्तक में उन नियमोपनियम की शब्द रचना को नहीं लिया गया है तथापि विवेचन के केन्द्र और परिधि वे सूत्र ही हैं। प्रस्तुत पुस्तक के नाम और रचनाक्रम के विषय में मैंने मुनि महेन्द्र कुमार जी के सुझावों को चरितार्थ किया है।

पुस्तक के शेष प्रकरण में अणुव्रतियों के जीवन-संस्मरण रखे गये हैं। आन्दोलन के विचारात्मक पक्ष के साथ प्रयोगात्मक पक्ष भी पाठकों के सामने रहे यह आवश्यक माना गया। नाना प्रकार के संस्मरण इससे पूर्व भी विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में जनता के सामने आये। विवेचन तथा विचार की अपेक्षा सर्वसाधारण का आकर्षण संस्मरणों में कहीं अधिक पाया गया। इससे भी विशेष बात यह है संस्मरणों का विषय मुझे सर्वाधिक प्रिय सदा से रहा। यही कारण था आन्दोलन के आरम्भ से लेकर मैं अब तक उनका संकलन करता रहा हूँ। ये संस्मरण अणुव्रतियों की भाषा में ही संकलित हैं, इसलिये बहुत सारे विचारक अणुव्रतियों का यह सुझाव रहा कि इस संकलन से अणुव्रतियों को आत्म-श्लाघा का दोष तो नहीं लगेगा? उस विचार को ध्यान में रखते हुए संस्मरणों के साथ अणुव्रतियों के नाम नहीं जोड़े गये हैं।

मुनि नगराज

संवत २०१४ श्रावण शुक्ला ४
नया बाजार, दिल्ली।

अनुक्रम

अणुव्रत - आन्दोलन

मनुष्य अपनी दैहिक रचना से बहिर्मुख है। उसकी इन्द्रियां भी बहिर्गामी हैं। शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि ऐन्द्रियिक विषय तो पार्थिव हैं ही। यही कारण हो सकता है कि मनुष्य सुख व शान्ति को बाहर ही खोजता है। पर ऐसा करते समय वह भूल जाता है कि इस पार्थिव आवरण की तह में एक अन्तर जगत और भी है जो मन की आंखों का विषय है, जहां शान्ति का निर्द्वन्द्व साम्राज्य है एवं सुख का स्वर्ण मन माना लुटता है। उसे वीतरागियों ने देखा है, ऋषि महर्षियों ने पहचाना है। इसलिये तो वे गाते हैं, "अपनी आत्मा से आत्मा को देखो।"[1] "अमृत" का इच्छुक वह विरला ही मनुष्य है जो अपने नेत्रों को बाहर से अन्दर की ओर मोड़ता है।"[2] अणुव्रत-आन्दोलन मनुष्य को अन्तर्मुख बनाने का ही एक सही अनुष्ठान है। वह इस विश्वास पर आगे बढ़ता है कि मनुष्य ज्यों-ज्यों अन्तर्मुखी बनता जायेगा त्यों-त्यों उसकी वैयक्तिक व सामष्टिक समस्यायें स्वयं तिरोहित होती जायेंगी। उदाहरणार्थ—अणुव्रती या दूसरे शब्दों में अन्तर्मुखी व्यक्ति भी अपनी जीवन धारणा के लिये खायेगा पर वह इतना नहीं खायेगा कि उस कारण से दूसरे भूखे रह जावें। वह दूसरे के हिस्से को स्वयं संग्रह करके न छोड़ेगा। वह पारिवारिक दायित्व के लिये धन संग्रह भी करेगा पर वह

१—संपिक्खए अप्पगमप्पएणं

२—परं चिखानि व्यतृणत् स्वयम्भू तस्मात् परं पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद् धीरप्रत्यगात्मानमैक्षत् परिवृत्य चक्षुरमृतत्वमिच्छन्।
—कठोपनिषद्।

संग्रह अपनी अल्पतम आवश्यकताओं को लांघकर नहीं होगा। उसमें शोषण की गन्ध नहीं रहेगी, इसका परिणाम होगा—समाज के सम धरातल पर एक जगह धन का ढेर नहीं लगेगा और दूसरी जगह गड्ढा नहीं पड़ेगा। अन्तर्मुखी व्यक्ति ज्ञान विज्ञान भी पढ़ेगा पर उसका ज्ञान विज्ञान अणुबम व उद्जन बम जैसी संहारक शक्तियों का स्रष्टा नहीं होगा। वह तो यही मान कर चलेगा कि "उन करोड़ों पदों के कंठस्थ कर लेने से क्या ? यदि उसे इतना भी ज्ञान न हो कि दूसरों की हिंसा नहीं करनी चाहिये।" वह मानेगा, वास्तविक विद्या वह है जिससे कि मनुष्य की "आत्मोपम्य बुद्धि जागृत हो।" अस्तु, इस प्रकार जब पर्याप्त मात्रा से अन्तर्मुखता का उदय होगा तो आर्थिक विषमता, विश्व युद्ध, गोरे काले का भेद, स्पृश्य अस्पृश्य की धारणायें आदि समस्यायें अपने आप अस्त हो जायेंगी।

अणुव्रत और महाव्रत

व्रत मानस का दृढ़तम संकल्प व जीवन की सुन्दरतम मर्यादा है। यह आत्मानुशासन का प्रतीक और दैवी भावनाओं का विकास है। व्रतों के आरम्भ व क्रमिक विकास की दृष्टि अणुव्रत शब्द में अन्तर्निहित है और अहिंसा, सत्य आदि की साधना की पराकाष्ठा महाव्रत शब्द में। अणु से आरम्भ होकर महा की ओर अग्रसर होते रहना अणुव्रती का ध्येय होगा। अहिंसा के अणु अणु को जोड़ता हुआ अणुव्रती चलेगा। उन अणुओं के संगठन में विराट् भावनायें आकार लेंगी—"अपनी

१—किंतेण पढियाये पय कोडि वि पलाल भुयाए।
जह इत्तो वि न जाणं परस्स पीडा न कायव्वा॥

आत्मा के जो प्रतिकूल है वह दूसरों के लिये मत कर[1]।" "समग्र विश्व को मित्र की दृष्टि से देख[2]" "जिसे तू मारता है, समझ वह मैं ही हूँ[3]।" इसी प्रकार वह सत्य का अणु लेकर विराट् सत्य की खोज में आगे बढ़ेगा। उसकी निष्ठा होगी, "मैं असत्य से सत्य की ओर आगे बढ़ूँ[4]।" "सत्य ही विजयी होगा असत्य नहीं[5]।" "वही संसार में सार भूत है[6]।" इसकी वाणी होगी—"आत्म-साक्षी से सत्य का अन्वेषण करो[7]।" अस्तु, ब्रह्मचर्य की साधना का एक कण लेकर वह साधक से सिद्ध होने का प्रयत्न करता है। अपरिग्रह की दिशा में वह आगे बढ़ता हुआ आत्मस्थित की स्थिति पर पहुँचने को प्रयत्नशील रहेगा। उसकी मान्यता होगी—"तृष्णा क्षयी समस्त दुःख को जीत लेता है[8]।" अस्तु, इस प्रकार व्रत के माध्यम से अणु से महा की ओर अग्रसर होते रहना ही अणुव्रत शब्द का हार्द है। अणुव्रत का शाब्दिक अर्थ है—छोटे व्रत।

भारतीय संस्कृति में अणुव्रत

अणुव्रत शब्द यद्यपि जैन परम्परा का है[9] तथापि इसका

---

१. "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्"

२. मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे (वेद वाक्य)

३. जं हंतव्वंति मन्नसि तं तुमंसि चेव—भगवान् महावीर

४. अहमनृतात् सत्यमुपैमि। (वेद वाक्य)

५. सत्यमेव जयते नानृतम्।

६. सच्चं लोगम्मि सारभूयं—भगवान् महावीर

७. अप्पणा सच्चमेसिज्जा।

८. सब्बतण्हक्खयो सब्बदुक्खं जिनाति। —बुद्ध

९. अरहन्त देवाऽऽणुपियाणं अन्तिए पंचाणुव्वइयं..........गिहिधम्मं पडिवज्जिस्सामि (उपासक-अध्ययन १)

हार्द भारतीय संस्कृति में सर्वमान्य रहा है। योग दर्शन के प्रणेता-पतंजलि ने देश काल आदि सीमाओं में मर्यादित अहिंसा, सत्य आदि इन्हीं पांच तथ्यों को व्रत और देश काल की मर्यादा से मुक्त इन्हीं पांच तथ्यों को महाव्रत कहा है[1]।

बौद्ध परम्परा में इनको पंचशील के नाम से कहा गया है[2]। महात्मा गांधी ने अस्वाद और अभय को स्वतंत्र व्रत के रूप में मानकर इन्हीं तथ्यों को सप्त व्रत के नाम से कहा है[3]। भारतीय ही नहीं किन्तु इतर धार्मिकों एवं धर्म प्रवर्तकों ने भी बाइबिल, कुरान आदि ग्रन्थों में इन्हीं तथ्यों को मूल माना है।

अस्तु, यहाँ यह जान लेना भी आवश्यक होगा कि अणुव्रत-आन्दोलन में प्रयुक्त अणुव्रत शब्द एक स्वतंत्र व्यापक अर्थ रखता है जबकि जैन परिभाषा में अणुव्रत शब्द सम्यग् दर्शन के साहचर्य का भाव रखता है। इससे लगता है जैनों की इस तर्क का कि सम्यग् दर्शन के अभाव में कोई अणुव्रती कैसे कहला सकता है, शमन होगा। साथ-साथ जैनेतरों की इस तर्क का भी कि जब आन्दोलन का उद्देश्य सार्वजनीन एवं व्यापक है तो किसी धर्म व परम्परा विशेष की संज्ञा का ही व्यवहार क्यों?

धर्म व संस्कृति का निचोड़

धर्म व संस्कृति का मार्ग गहन है, सीधा साधा मनुष्य उसमें भटक जाता है। आत्मा, मोक्ष, पुण्य, पाप की

---

१. अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।
अतिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौम महाव्रतम्
योग दर्शन साधना पद ३०-३१

२. धम्मपद १८-१०

३. मंगल-प्रभात

गुत्थियां समग्र जीवन के द्रोता ऋषि महर्षियों से भी पूर्णतः नहीं सुलझ पाई, वे भी समग्र विषयों पर एक नहीं हो सके। पर अणुव्रत-अनुशास्ता उन समस्त दुविधाओं से बच कर जीवन के उस राजमार्ग पर चलता है जिसमें दो विकल्प नहीं हैं। उसका मार्ग समस्त धर्मों एवं समस्त दर्शनों एवं संस्कृतियों से अनुमोदित है, विविध दर्शनकार चाहे तर्क की पगडुण्डियों में बैठ कर कितने ही गहरे उतरते हों पर जीवन व्यवहार के इस समान धरातल पर सब एक हैं। इसलिये कहा जा सकता है, अणुव्रत-आन्दोलन धर्म व संस्कृति का वह समग्र निचोड़ है, जो एक ही प्याले में एक रस करके प्रस्तुत किया गया है।

मानव-धर्म

आजकल बहुत सारे लोग धर्म को पचड़ा मानते हैं, वे कहते हैं हम किसी धर्म को नहीं मानते। हम तो मानव-धर्म के उपासक हैं। कुछ अंशों में उनका कथन निराधार नहीं है। धर्म के शुद्ध रूप पर जब नाना रूढ़ियां, आडम्बर, ईर्ष्या, साम्प्रदायिक व्यामोह आदि आ गये तो मनुष्य को लगने लगा कि जहाँ धर्म के नाम पर मानवता की भी विडम्बना है, ऐसे धर्म से क्या? अस्तु, इनका चिन्तन चाहे कितने ही अंशों में सत्य हो पर यह तो निश्चित ही है कि अणुव्रत-आन्दोलन जन-जन द्वारा अभीप्सित मानव धर्म की एक व्यवस्थित रूप रेखा है।

जीवन व्यवहार में धर्म

आज की अनैतिक स्थिति ने यह तो स्पष्ट ही कर दिया है कि जितना सत्य यह है कि भारतीय धर्म शास्त्रों में जो जीवन के हेयोपादेय का मन्थन है और जो आदर्श जीवन की

कल्पना है वह बेजोड़ है, उतना सत्य यह भी है, जीवन व्यवहार के उन आदर्शों से भारतीय लोग जितने दूर हैं, उतने दूसरे नहीं। फिर भी धार्मिक तो सबसे अधिक भारतीय लोग स्वयं को ही मानते हैं। उसका भी एक हेतु है। धर्म के मुख्यतया दो विभाग होते हैं। एक भावना-प्रधान और एक आचरण-प्रधान। भावना-प्रधान धर्म का देश में आज भी बोल बाला है। लोग अपने अपने विश्वासों के अनुसार मठ, मन्दिर, मस्जिद, गिरजा और साधु स्थानों आदि धर्मस्थलों में जाते हैं, जप, स्तुति व्रत आदि विभिन्न प्रकारों से धर्माराधना करते हैं। पर ज्यों ही वे घर में, दुकान पर या आफिसों में आते हैं तब यह भूल जाते कि धर्म का मर्म हमें यहां भी साथ रखना है। धर्म गुरुओं के द्वारा भी केवल उपासना के पक्ष पर अधिक जोर दे देने के कारण लोगों की जड़ धारणा बन गई है कि जीवन व्यवहार में कितना ही अधर्म करते रहें, हमारी उपासना हमें मुक्ति दे ही देगी। ऐसी स्थिति में अणुव्रत-आन्दोलन मनुष्य को इस ओर मोड़ता है कि धर्म धर्म-स्थान का विषय नहीं वह जीवन का विषय है। वह अहिंसा, सत्य आदि रूप धर्म तो सही अर्थ में आफिस या दुकान में भी आराधा जा सकता है। व्यवसायी तराजू को हाथ में लिये भी यह सोचता रहे, मैं ग्राहक को किसी प्रकार धोखा तो नहीं दे रहा हूं। कर्मचारी फायलों पर दस्तखत करता हुआ यह सोचता रहे कि मैं किसी के साथ अन्याय तो नहीं कर रहा हूं। यह धर्म की वह साधना है जो कुछ दृष्टियों से धर्म-स्थान में बैठे के रूप में की जाने वाली साधना से अपना विशेष महत्व रखती है। अणुव्रत-आन्दोलन सहज ही धर्माराधना के उन दो पहलुओं में सन्तुलन पैदा करने वाला

यह जीवन व्यवहार का क्षेत्र है जो आज धर्म के अभाव में नीरस बनता जा रहा है उसे सरस बनाने वाला सिद्ध होगा।

तीन श्रेणियाँ

अणुव्रत-आन्दोलन के सदस्य अणुव्रती तीन श्रेणियों में विभक्त हैं; प्रवेशक अणुव्रती, अणुव्रती, विशिष्ट अणुव्रती। ये श्रेणियां क्रमिक विकास की प्रतीक हैं पर प्रत्येक सदस्य के लिये अपनी, अपनी श्रेणी के निर्धारित नियम तो अनिवार्य हैं ही। उससे आगे वह यथा-क्रम विकास करता चला जाय यही श्रेणी निर्धारण का हार्द है। निर्धारित नियमों को अपना कर प्रवेशक अणुव्रती सचमुच ही आज के अनैतिकता पूर्ण वातावरण में प्रतिगामी होकर अपनी मंजिल के तोरण द्वार में प्रवेश कर जाता है। अणुव्रती होना अपने आपको आदर्श नागरिक के रूप में उपस्थित करना है। वहाँ व्यक्ति चालू समाज व्यवस्था के मानदण्ड से अपने स्वार्थ के लिये किसी भी अनैतिक प्रवृत्ति में अग्रसर नहीं होगा। निर्धारित नियम उसका शरीर व नियमों की दृष्टि से हार्द व व्याख्या उसके प्राण होंगे। नियमों के खंडन को वह अपनी भौतिक (शारीरिक) मृत्यु व नियमों के हार्द के हनन को आत्म-हनन (नैतिक मृत्यु) के बराबर समझे यह उसकी साधना का विषय होगा।

हिंसा व शोषण रहित जीवन व्यवस्था

तीसरी श्रेणी विशिष्ट अणुव्रतियों की है। वहां साधक इस स्थिति पर पहुंच जाता है कि वह चालू समाज रचना के बहुत सारे मूल्यों को चुनौती देकर जीवन व्यवहार की एक नई व्यवस्था को जन्म देता है। उदाहरण के लिये वैध प्रयत्न

से आदमी व्यवसाय चलाता है, धन संग्रह उसके आगे आगे बढ़ता जाता है [illegible] व्यक्ति का सामाजिक मूल्यांकन अनैतिक व्यक्ति के रूप में [illegible] होगा। किन्तु विशिष्ट अणुव्रती इससे आगे की [illegible] उसका विश्वास होगा, मैं नैतिक प्रयत्नों से भी यदि [illegible] से अधिक संग्रह करता हूँ, अपने घर में [illegible] लगाता हूँ तो समाज में नाना गड्ढे [illegible] और विषमता पनपती है। यह आर्थिक [illegible] एक ज्वलंत हिंसा का निमन्त्रण बनती है। [illegible] शोषण रहित व्यवस्था की पहली ईंट [illegible] होना है। अस्तु-इसी प्रकार विशिष्ट [illegible] ऊर्ध्वमुखी होगा और जीवन व्यवहार [illegible] क्रान्ति करता हुआ चलेगा।

आदि से अब तक

[illegible] का विराट् अस्तित्व रहता है। अनुकूल स्थिति [illegible] वह उभर आता है। नया प्रकार की विराट् [illegible] भी पहले पहल मनीषी-मस्तिष्क में एक सूत्र [illegible] होता है। अनुकूल समय आते ही वे उसे वट की तरह विस्तृत कर दिखाते हैं। लगभग आठ वर्ष पूर्व की बात है, जब आचार्य श्री तुलसी राजस्थान के छापर नामक ग्राम में चातुर्मासिक प्रवास कर रहे थे, सर्वसाधारण जनता के इन उद्गारों से प्रेरित होकर कि आज की स्थिति में नैतिक रहकर व्यक्ति जीवन यापन कर सके, यह असम्भव है—आचार्य वर ने अपने प्रातःकालीन प्रवचन में सहस्रों नर-नारियों के बीच सिंह गर्जना करते हुये कहा—"आज मैं पचीस व्यक्तियों के नाम चाहता हूँ जो कठिनाइयों का सामना करके भी

नैतिकता के मार्ग पर चलकर लोगों की बनत हुई दुर्बल धारणाओं को चुनौती दे सकें।" वातावरण नैतिकता के पक्ष में स्फूर्तिमान था। धड़ाधड़ एक एक करके पच्चीस वीर खड़े हुये और निवेदन किया, आप हमें मार्ग दर्शन करें, हम किसी भी कीमत पर नैतिकता के दुरूह मार्ग पर आगे बढ़ने के लिये कटिबद्ध हैं। आचार्य वर का हृदय उल्लास से भर गया। उन पच्चीस साहसिक व्यक्तियों के नाम अंकित किये व उन्हें मार्ग दर्शन करने का भरोसा दिया। अस्तु— वही एक दिन की घटना आज इस विश्वजनीत अणुव्रत-आन्दोलन की पहली ईंट साबित हो रही है।

उन साधकों के क्या-क्या नियम हों, उनके संगठित स्वरूप को कैसे मार्ग दर्शन दिया जाय, इस समग्र प्रयत्न की स्पष्ट रेखा क्या हो—इसी चिन्तन में आचार्य वर ने अणुव्रत आन्दोलन के रूप में अशेष मानव जाति के नैतिक अभियान का राजमार्ग खोज निकाला, जो आज अपने क्रमिक विकास में कोटि कोटि जनता के जीवन निर्माण का जागरूक विषय बन रहा है। परिस्थितियों की प्रतिकूलता में भी आचार्य वर की सजीव प्रेरणायें ऐसी बलवती होकर चलीं कि आन्दोलन के उद्‌घाटन समारोह में उन्हीं पच्चीस व्यक्तियों के पच्चास साथी आकर और मिले। पहले वार्षिक अधिवेशन पर ६२१ व्यक्तियों ने देहली के चांदनी चौक में समग्र प्रतिज्ञायें ग्रहण कीं। इसी क्रम से विगत सातवें सरदार शहर अधिवेशन पर लगभग साढ़े चार हजार व्यक्तियों ने अणुव्रत-मार्ग पर चलने की शपथ ली। क्षेत्र की दृष्टि से राजस्थान के सरदार शहर कस्बे से शुरू होने वाला आन्दोलन आज पञ्जाब, सौराष्ट्र, गुजरात, मैसूर, बिहार, उड़ीसा, बंगाल आदि भारतवर्ष के सभी प्रमुख प्रान्तों

में प्रसार पा रहा है। आज तक के सदस्यों में जैन, वैष्णव, आर्य समाजी, सिक्ख, मुसलमान, ईसाई आदि विभिन्न धर्म व हरिजन, किसान, व्यापारी, पदाधिकारी, साहित्यकार एवं राजनैतिक कार्यकर्ता आदि विभिन्न जाति पेशा व रुचि वाले व्यक्ति सम्मिलित हैं।

प्रवृत्तियां

इस अवधि में अणुव्रत-क्रान्ति को आगे बढ़ाने वाली बहुत सारी कार्य प्रवृत्तियां प्रस्फुटित हुई हैं। अणुव्रत विचार परिषद्, वर्गीय सप्ताह व पखवाड़े, अहिंसा दिवस, अणुव्रत प्रेरणा दिवस आदि उनमें उल्लेखनीय हैं। देश के विभिन्न भागों में होने वाली विचार परिषदों में सर्वमान्य विचारकों के मननशील विचारों के माध्यम से विचार क्रान्ति के रूप में अणुव्रत भावनायें जन जन में फैली हैं। वर्गीय सप्ताह व पखवाड़ों में वर्गगत बुराइयों के विरोध के लिये तत्सम्बन्धी नियमों का विशेष रूप से प्रसार हुआ। जैसे विद्यार्थियों में—

१—परीक्षा में अवैधानिक तरीकों से उत्तीर्ण होने का प्रयत्न नहीं करूंगा।

२—किन्ही तोड़ फोड़ मूलक हिंसात्मक कार्यवाहियों में भाग नहीं लूंगा।

३—धूम्र पान व मद्य पान नहीं करूंगा। आदि"

तथा व्यापारियों में—

१—कूटा तोल माप नहीं करूंगा।

२—चोर बाजारी नहीं करूंगा।

३—मिलावट नहीं करूंगा, आदि।

देश के विभिन्न स्थलों में होने वाले इन प्रयत्नों में पर्याप्त सफलता मिली। सन् ५४ में ही केवल लगभग एक लाख विद्यार्थियों को विद्यार्थी उद्बोधक सप्ताह व पखवाड़ों में बलवती नैतिक प्रेरणायें मिलीं और लगभग बीस हजार विद्यार्थियों ने स्वेच्छापूर्वक उक्त प्रकार की प्रतिज्ञायें ग्रहण कीं। मजदूर, किसान, हरिजन, व्यापारी आदि विभिन्न वर्गों में भी तत्प्रकार के कार्य क्रम चले व चलते रहेंगे, ऐसी आशा है। अस्तु, इसी प्रकार अन्य अहिंसा दिवस व प्रेरणा दिवस के विराट् आयोजनों से समय-समय पर जनता उपकृत होती रही है। यह अणुव्रत-आन्दोलन के क्रमिक विकास सम्बन्धी आदि से अभी तक का संक्षिप्त इतिहास है।

सुधार या क्रान्ति

सुधार का आगमन विचारों से प्रारम्भ होता है। पर विचारों का आमूल बदलना क्रान्ति का रूप लेता है। आज के लोग सुधार की अपेक्षा क्रान्ति में अधिक विश्वास करने लगे हैं। प्रश्न उठता है अणुव्रत-आन्दोलन सुधार है या क्रान्ति? यथार्थता यह है, अणुव्रत आन्दोलन सुधार भी है और क्रान्ति भी। व्यष्टि सुधार से वह समष्टि सुधार की ओर जाता है, इसलिये वह सुधार है। विचारों की जिस पृष्ठ भूमि पर वह आश्रित है, वह समाज में मौलिक परिवर्तन लाने का हामी है, वह जन-जन को अर्थ-निष्ठ से चरित्र-निष्ठ बनाने का आग्रही है। वह समाज के संग्रहशील विश्वासों को आवश्यकताओं के स्वल्पीकरण में परिवर्तित करने को कृत संकल्प है। वह समाज को बहिर्मुख से अन्तर्मुख बनाने का पक्षपाती है इसलिये वह एक क्रान्ति है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं, वह एक सात्विक सुधार व अहिंसात्मक विचार क्रान्ति है।

व्यापक उपयोगिता

समालोचना की दूसरी दृष्टि है कि ३६ करोड़ भारतीयों में से यदि चार हजार व्यक्ति सद्व्यवहारी बन गये तो देश के सामूहिक चरित्रपात पर क्या प्रभाव पड़ेगा ? प्रतिवर्ष ५०० अणुव्रती बनते जायँ तो भी इस नैतिक दुर्भिक्ष का अन्त कब होगा ? विस्तृत समीक्षा में जाने से पूर्व यह तो मान ही लेना होगा कि उक्त विचार के समीक्षक भी इसमें दो मत नहीं हैं कि स्वल्प सुन्दर भी असुन्दर तो नहीं है।

दूसरी बात यह है, आन्दोलन देश के सामूहिक नैतिक पुनरुत्थान में कहां तक पर्याप्त होगा, इस पर भी कुछ मीमांसा कर लेना आवश्यक है। चार हजार व्यक्ति व्रत ग्रहण करते हैं इसलिये यह आन्दोलन इतने व्यक्तियों तक ही विगत अवधि में चला, यह मान लेना भूल है। स्थिति यह है कि आन्दोलन जितना व्रतों का प्रेरक है उससे भी अधिक विचारों का। वैसे तो यथार्थ यह है कि जिस आन्दोलन के द्वारा सहस्रों व्यक्ति व्रतों की मर्यादा में आ जाते हैं वहां समझना चाहिये, आन्दोलन लाखों और करोड़ों के हृदय को छू गया है। क्योंकि नैतिक विचारों से प्रभावित होने वालों में कुछ ही प्रतिशत व्रत ग्रहण के लिये आगे बढ़ते हैं। आज प्रवेशक अणुव्रती व स्फुट नियमों को ग्रहण करने वालों की संख्या लाखों से कम नहीं आंकी जाती। अस्तु, अणुव्रतियों की निर्दिष्ट संख्या को हम स्वल्प कहें या अधिक, यह कोई विवाद का विषय नहीं है। आन्दोलन की व्यापक सफलता तो नैतिक विचार प्रसार में ही निहित है। क्योंकि कोई भी सुधार पहले विचारों में आता है और पीछे कृति में। चारों ओर से सर्व साधारण को केवल विचार सुनने को मिलते रहें तो उसका तात्कालिक परिणाम चाहे कुछ भी

सामने न आये किन्तु उसका असर उसी दिन से आरम्भ हो जाता है और एक अवधि के पश्चात् एक ठोस परिवर्तन का रूप ले लेता है। वह सुधार हाथ घड़ी में लगी उस तारीख की सुई के समान है जो चलती हुई दीख नहीं पड़ती पर अगले दिन अगली तारीख पर मिलती है। इसलिये आशा ही नहीं किन्तु भरोसा है, अणुव्रत-आन्दोलन देश की अनैतिक स्थिति का अन्त करने में एक व्यापक अनुष्ठान सिद्ध होगा।

पूंजीवाद व साम्यवाद के संघर्ष पर

अणुव्रत-आन्दोलन जीवन-व्यवहार में एक क्रान्तिकारी अनुष्ठान है। आन्दोलन के नियम देखने में अणुव्रत अर्थात् छोटे व्रत हैं। किन्तु इनके पीछे समाज परिष्कृति का एक विराट् दर्शन है। आज जबकि पूंजीवाद व साम्यवाद का ज्वलन्त संघर्ष है, अणुव्रत दर्शन उस संघर्ष का अपने आपमें एक सहज समाधान है। वह साम्यवाद की समतापरक भावना को लेता है किन्तु उसके साथ जुड़ी हिंसा की कड़ी पर सजीव प्रहार करता है। पूंजी समाज के जीवन-यापन का एक माध्यम है यह एक व्यवस्था है पर शोषण व संग्रह जैसी पूंजीवादी दुष्प्रवृत्तियों को अणुव्रत-आन्दोलन एक सीधी चुनौती देता है। अणुव्रतों का दृष्टिकोण है, व्यक्ति स्वयं मर्यादित और प्रामाणिक बने। संग्रह व शोषण की प्रवृत्ति से विषमता बढ़ती है। अर्थ का केन्द्रीकरण सर्वहारा समाज में (निम्न वर्गों में) एक खीज पैदा करता है।

अणुव्रत दर्शन सर्वहारा वर्ग को बुर्जुआ (पूंजीपति) वर्ग पर हमला बोल देने की बात नहीं कहता। वह बुर्जुआ वर्ग से ही चोर बाजारी, मिलावट, अधिक श्रम ग्रहण आदि अनैतिक तरीकों से धन संग्रह न करने की प्रतिज्ञायें लेने को कहता है। पर यहीं तक उसका कार्य समाप्त नहीं है। विशिष्ठ अणुव्रती की

श्रेणी में आने वाले व्यक्तियों को किसी भी प्रयत्न से निर्धारित सामान्य मर्यादा से अधिक संग्रह नहीं करने देता। अस्तु, परिणाम यह होता है कि अणुव्रत दर्शन हिंसा व शोषण के स्थान पर समता व मैत्रीपूर्ण जीवन व्यवस्था को जन्म देकर साम्यवाद और पूंजीवाद के संघर्ष पर एक सुलभाव भरी निगाह देता है।

निषेधात्मक शैली

अणुव्रतों की रचना में मुख्यतः निषेधात्मक दृष्टि ही अपनाई गई है। साधारणतया यह बात प्रश्न होकर सामने आ ही जाती है कि केवल निषेध से क्या? जीवन निर्माण के लिये विधि प्रधान पद्धति की आवश्यकता थी। किन्तु स्थिति यह है जीवन को मर्यादित बनाने में जितना निषेध सफल है उतनी विधि नहीं। निषेध स्व-मर्यादा है। दूसरी बात मनुष्य के जीवन में स्वभावतः विधेयकता अधिक है और हेयता का आचरण कम है। इसलिये यह श्रेय होता है कि हम उसके सामने न करने की सूची उपस्थित करें न कि करने के कामों की लम्बी फेहरिस्त (तालिका)।

निःश्रेयस् की ओर

आज के इस भौतिकता प्रधान युग में रोटी व कपड़ा समाज व्यवस्था व दर्शन का विशेष पहलू बनता जा रहा है। क्षितिज के इस पार कुछ नहीं है, यह निष्ठा ही उसका एक बलवान आधार है। इसीलिये तो सोचा जाता है, इच्छित प्रकार की समाज व्यवस्था सम्पन्न हो, हिंसा से या अहिंसा से—इसमें कोई विशेष अन्तर नहीं है। किन्तु जिस संस्कृति में क्षितिज के उस पार भी जहाँ सत् चित् आनन्द की कल्पना है वहाँ उक्त प्रकार का जड़वाद उपादेय नहीं हो सकता। वहाँ व्यक्ति अपने समुचित

साध्य को समुचित प्रयत्नों से ही पाना चाहिए। अध्यात्मवादी देशों की समाज व्यवस्था ऐहिक और पारलौकिक जीवन के दोनों पहलुओं के सामंजस्य पर आधारित रही है। वहां जीवन का परम लक्ष्य निःश्रेयस् की ओर आगे बढ़ना है। और ऐहिक समाज व्यवस्था उसका गौण परिणाम। वहां बताया गया है हिंसा मत करो, असत्य मत बोलो, चोरी मत करो, संग्रह मत करो इनसे तुम्हें निःश्रेयस् मिलेगा। इस प्रकार जब व्यक्ति अपने लक्ष्य की ओर आगे बढ़ता रहेगा, ऐहिक समाज व्यवस्था अपने आप सहज सुन्दर रूप ले लेगी। जब समाज में हिंसा, असत्य, संग्रह, शोषण आदि दुर्गुण नहीं होंगे तो मैत्री व समानता का उदय अवश्यंभावी है ही। अणुव्रत-आन्दोलन का मूल लक्ष्य व्यक्ति-व्यक्ति को परम सत्य की ओर अग्रसर करना है।

आचार्य श्री तुलसी

आन्दोलन के प्रवर्तक जैन श्वेताम्बर तेरापंथ के नवम अधिनायक आचार्य श्री तुलसी हैं। आपका जन्म लाडनूं (राजस्थान) में विक्रम सम्वत् १९७१ कार्तिक शुक्ला २ को हुआ। आप प्रारम्भ से ही प्रत्युत्पन्न मति, मेधावी, कर्मशील व प्रखर ज्ञानिमान थे। संसार की अन्य आर्ष विभूतियों की तरह आपने ११ वर्ष की अल्पावस्था में ही प्रव्रज्या ग्रहण की। यह आपका जीवन के द्वितीय चरण में प्रवेश था। एकादश वर्षीय इस चरणावधि में साधना व ज्ञानोपार्जन के क्षेत्र में आपने निरुपम सफलता प्राप्त की और बाईस वर्ष की अवस्था में वृहत् तेरापंथ समुदाय के यशस्वी आचार्य बने। इतनी अल्प अवस्था में इतने बड़े समुदाय का कार्यभार सम्हाल लेना इतिहास-पृष्ठों पर अंकित विरली घटनाओं में एक घटना थी। जीवन के इस तृतीय चरण में आपने लगभग ६०० साधु

साध्वीजन तथा लाखों अनुयायियों का एक तरुण सेनानी के रूप में स्फूर्तिमान संचालन किया। समुदायस्थ शिष्य जनों को प्राचीन व अर्वाचीन ज्ञान विज्ञान से समृद्ध कर वाद प्रवाद से संकुल वर्तमान युग में जन कल्याण के उपयुक्त बना देना आपका प्रमुख लक्ष्य रहा।

विक्रम सम्वत् २००५ में आपने ३४ वर्ष के अवस्था काल में अणुव्रत-आन्दोलन के रूप में यह पुनीत अनुष्ठान प्रारम्भ किया।

आप संस्कृत, प्राकृत व हिन्दी आदि विभिन्न भाषाओं के अधिकारी विद्वान हैं। राजस्थानी में कालूयशोविलास नामक महा-काव्य आपकी कवित्व शक्ति का अप्रतिम उदाहरण है। संस्कृत में जैन सिद्धान्त दीपिका, श्री भिक्षु न्याय कर्णिका आदि विस्तृत ग्रन्थ आपके प्रगाढ दर्शन व न्याय सम्बन्धी अनुशीलन के प्रमाण हैं। "शान्ति के पथ पर" नाम से आपके सामयिक समस्याओं पर दिये गये विचार आपकी बहुमुखी चिन्तनशीलता का परिचय देते हैं। आपके जीवन में कर्मशीलता और विचार शीलता का गंगा यमुना संयोग आपको जन-जन का आकर्षण बिन्दु बना रहा है। अणुव्रत आन्दोलन की अथ से अब तक की बहुमुखी सफलता आपकी उक्त विशेषताओं का ही परिणाम है।

लक्ष्य और साधन

किसी भी प्रवृत्ति की सम्पन्नता को परखने के लिये लक्ष्य और साधन दो शालिकाएं हैं, क्रिया मनुष्य का सहज धर्म है पर वह सल्लक्ष्य व सन् साधना के मणिकांचन योग से आप्लावित होकर ही सत्प्रवृत्ति का रूप लेती है। निर्लक्ष्य चरण-विन्यास जहाँ व्यर्थ उपक्रम की कोटि में है वहाँ साधन की अशालीनता व्यक्ति और लक्ष्य के बीच में एक गहरी खाई है। जीवन का ध्येय शुद्ध साधनों से शुद्ध लक्ष्य की ओर बढ़ते जाना है। वाद-प्रवादों के तुमुल में और भूतवाद की भ्रान्तियों में सहसा मनुष्य दिग्मूढ़ बनता है और किसी दिव्य ध्वनि व शाश्वत-आलोक की अपेक्षा करता है। ऐसी स्थिति में जिस किसी मानव विभूति को कोई ज्योतिःस्फुलिंग मिला है वह सर्वसाधारण के सामने रखे, यह उसका सहज धर्म हो जाता है। इसी चिन्तन का प्रेरित परिणाम आचार्य श्री तुलसी का अणुव्रत-आन्दोलन है। आन्दोलन के लक्ष्य और साधन परम सात्विक हैं, उनका अवलोकन मात्र अणुव्रत-आन्दोलन का समग्र देह-दर्शन है:—

क—"जाति, वर्ण, देश और धर्म का भेद भाव न रखते हुये मनुष्य मात्र को आत्म-संयम की ओर प्रेरित करना।"

ख—"अहिंसा और विश्व शान्ति की भावना का प्रसार करना।"

"एकैव मानुषी जातिः आचारेण विभज्यते"—मनुष्य जाति एक है और आचार-भेद से वह नाना भागों में विभक्त है। जाति, वर्ण, देशकृत भेद काल्पनिक एवं अतात्विक हैं। जाति एक समान आचार-व्यवहार की सूचक है, उससे परे उसमें उच्चावचता की कल्पना कोई मौलिक आधार नहीं रखती। वर्ण भेद केवल मनुष्य के अहं पर आधारित है। काले और गोरे के भेद से हीन और महान की मान्यता मनुष्य की अज्ञान भरी दुष्ट बुद्धि का परिणाम है। देश का ममत्व व उसके नाम पर अन्य देश के प्रति घृणा, ग्लानि मनुष्य की संकीर्ण दृष्टि का सूचक है। "उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्"—उदार चरित वालों के लिये समस्त पृथ्वी ही कुटुम्ब है। नाना धर्म, नाना विचार सरणियों पर आधारित हैं और अपनी-अपनी श्रद्धा व निष्ठा के विषय हैं। धर्म के नाम पर, स्व और पर की कल्पना पर राग और द्वेष की प्रवृत्ति अवांछनीय है। इत्यादि मन्तव्यों को आदर्श मानते हुये अणुव्रत-उपक्रम बिना किसी तथा प्रकार के भेद-भाव के सबके लिये है। आत्म संयम उसका परम लक्ष्य है जो निश्रेयस् है व सिद्ध बुद्ध अवस्था का स्वयं एक साधन है।

"आत्मा का दमन करने वाला इस लोक और परलोक में सुखी होता है"[1]—इस आर्ष उक्ति को जब हम गहराई से सोचते हैं तो उससे प्रत्यक्ष और परोक्ष जीवन का स्पष्ट दर्शन निकलता है। आत्म-संयम का पारलौकिक सुखद परिणाम तो निर्विवाद है ही किन्तु आत्म-संयम का यह छोटा सा सूत्र वर्तमान व्यष्टि और समष्टि जीवन की आधिव्याधियों को भी दूर करने वाला है। व्यक्ति-व्यक्ति में आत्म-संयम का विकास हो तो आज के

१—अप्पा दन्तो सुही होई अस्सिं लोए परत्थ य।-उत्तरा० अध्ययन १।

जन जीवन की दुःसाध्य समस्यायें भी अविलम्ब सुसाध्य बनती हैं, इसीलिये आचार्य श्री तुलसी ने अणुव्रतियों के लिये एक प्रगतिमूलक उद्घोष (नारा) दिया—"संयम ही जीवन है[1]।"

आज का संसार हिंसा व अशान्ति के आघातों से उत्पीड़ित है। आज वाणी में अहिंसा और कर्म में हिंसा का साम्राज्य छाया है इसलिये व्यक्ति गृह जीवन से अन्तर्देशीय जीवन तक अपने को खोया-खोया सा अनुभव करता है। उसके सामने नाना समस्यायें प्रतिदिन उठती रहती हैं और वह उनका समुचित समाधान नहीं कर पाता। अतः व्यापक रूप से अहिंसा का प्रसार हो और विश्व शान्ति को भंग करने वाली स्वार्थपूर्ण संकीर्ण प्रवृत्तियां ज्वालमुखी न हों, यह अणुव्रत-आन्दोलन का सात्विक लक्ष्य है।

उपलक्षण से यह स्पष्ट है ही कि आज जो भारतीय जनता का जीवन-व्यवहार अनैतिकता की ओर नीचे खिसकता जा रहा है। धर्म प्रधान और आर्य कहलाने वाली संस्कृति में पले पुसे भारतीय आज कर्तव्य-हीनता के दुष्प्रवाह में बहे जा रहे हैं अर्थात् व्यवसायी ग्राहक को ठगता है, अधिकारी जनता से अनुचित लाभ उठाने के प्रयत्न में है, विद्यार्थी अनुशासन की सीमा को लांघ रहा है, उद्योगपति मजदूरों का श्रम अकिंचन मूल्य पर खरीदने को उतारू हैं और मजदूर अधिकारों की मांग के नाम पर उद्योगपतियों पर हावी होते जा रहे हैं ऐसी स्थिति में अनैतिकता की घोर तमिस्रा में सुषुप्त भारतीयों को नैतिक नव जागरण दे देना अणुव्रत-आन्दोलन का प्रमुख लक्ष्य है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये मनुष्य को अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का व्रती बनाना अभीष्ट माना

१—संयमः खलु जीवनम्।

गया है। क्योंकि व्रत बुराइयों से बचने के लिये एक मानसिक बन्धन है। प्रश्न रहता है—मनुष्य जहाँ सामाजिक व राजकीय नाना बन्धनों को तोड़ता जा रहा है वहां मानसिक बन्धन कहां तक सफल होगा ? समाधान स्पष्ट है—उक्त स्थिति में हृदय में अपनाया गया बन्धन ही एक मात्र उपचार है, इसके सिवाय अन्य मार्ग हो ही क्या सकता है। व्रत का भारतीय संस्कृति में बहुत ऊँचा स्थान है, यह विशेषकर बताने की बात नहीं क्योंकि भारतीय जन-मानस में व्रत का महत्व संस्कारगत ही सदा से रहा है। शिक्षित, अशिक्षित-व्रत ग्रहण करना एक ऊंचा धर्म व पुण्य मानते हैं और व्रत को तोड़ देना महापाप।

अहिंसा की तरह व्रत भी एक आध्यात्मिक अस्त्र है। अहिंसा का प्रयोग जब एक विधि से राजनैतिक पहलुओं में हुआ और उसके चामत्कारिक परिणाम स्वरूप भारतवर्ष स्वतन्त्र हुआ, अतः जीर्ण समाज व्यवस्था के सुधार या नवीन जीवन व्यवस्था के निर्माण में व्रत का उपयोग विधिवत होकर उतना ही चामत्कारिक हो सकता है।

यद्यपि विधान रचना में उक्त तथ्यों का व्रती बनाना ही साधन का रूप माना गया है तथापि उन पर आधारित भावना का प्रसार उसके अन्तर्गत आ ही जाता है। व्रत जिस गति से आगे बढ़ते हैं, भावना उनसे अधिक द्रुत गति से आगे बढ़ती है। व्रतों का विस्तार सहस्रों और लाखों व्यक्तियों तक आंका जा सकता है जबकि भावना का प्रसार करोड़ों तक भी। अतः अहिंसा, अपरिग्रह आदि की शुद्ध भावनाओं को आगे बढ़ाना उद्देश्य सिद्धि के लिये साधन रूप ही है। इसी का परिणाम है—व्रत-प्रसार के साथ-साथ विचार-प्रसार के सात्विक उपक्रम भी आन्दोलन के एक प्रमुख अंग माने गये हैं।

"अणुव्रतों को ग्रहण करने वाला अणुव्रती कहलायेगा।"

"जीवन शुद्धि में विश्वास रखने वाले किसी भी धर्म, दल, जाति, वर्ण और राष्ट्र के स्त्री-पुरुष अणुव्रती हो सकेंगे।"

उक्त संविधान एक समुदाय की संघटना करता है, ऐसा लगता है। सामुदायिक परम्परा बहुधा एक लम्बी अवधि के पश्चात् निष्प्राण होकर रूढ़ बन जाती है, यह एक विचार है। प्रश्न रहता है यदि उक्त विचार को आदर्श मानकर ही मनुष्य चले तो उसके लिये अन्य मार्ग क्या है? वह कुछ भी न करे? यदि करता है, तो किसी चिर-प्रचलित परम्परा को पोषण मिलता है, या नई परम्परा का जन्म होता है, यह अवश्यंभावी है ही। कुछ भी न करे तो विश्व चेतन से जड़ होता जायेगा। ऐसी स्थिति में मध्यम मार्ग यही रह जाता है कि मनुष्य सर्वदा सत्कर्म करता रहे और सम्भावित दोषों से बचने के लिये सर्वदा सचेष्ट रहे। अणुव्रत-आन्दोलन और उसके सदस्य—यह परम्परा भी बनाई नहीं गई अपितु वह स्वयं एक सत्प्रवृत्ति का परिणाम है। यह आवश्यक है—अनैतिकता व आत्म-पतन के प्रस्तुत वातावरण में एक व अनेक व्यक्ति नैतिकता व आत्म-संयम की भीष्म प्रतिज्ञा लेकर आगे बढ़ें, उतना ही सहज यह है कि विभिन्न आलम्बनों में से किसी एक आलम्बन को चुनें। तदनन्तर स्वतः अणुव्रत-आन्दोलन की रूपरेखा को आलम्बन मानकर आगे बढ़ने वाले परस्पर सहचर हो जाते हैं। यह उनकी पहचान है कि अणुव्रत-आन्दोलन की प्रणाली से वे जीवन-निर्माण की दिशा में आगे बढ़ रहे हैं इसलिए अणुव्रती हैं। अस्तु, किसी भी विचार-सरणि को लक्ष्य या साधन मानकर चलने

सम्प्रदाय नहीं, सहज प्रवृत्ति

व्रतों का एक समुदाय बनता ही है। अणुव्रत-आन्दोलन में भी संगठन की इससे अधिक अपेक्षा नहीं है। वस्तु स्थिति तो यह है उसे एक संगठन माना ही न जाय। यह तो जीवन-शुद्धि का एक व्यवहार्य-राजमार्ग है जिस पर नाना प्रान्त, नाना धर्म व नाना जाति के लोग परस्पर निरपेक्ष चल रहे हैं।

क्रमिक विकास

आदर्श और जीवन-व्यवहार के बीच जो एक गहरी खाई रहती है उसे साधक, श्रेणीबद्ध क्रमिक विकास करता हुआ ही पाट सकता है। क, ख से आरम्भ होकर ही व्यक्ति सिद्ध वैयाकरण हो सकता है। चरित्र-निर्माण की मंजिल तक पहुँचने के लिये जो अपेक्षायें प्रस्तुत हुईं, उन्हीं का परिणाम प्रवेशक अणुव्रती, अणुव्रती व विशिष्ट अणुव्रती—तीन श्रेणियाँ हैं।

आन्दोलन के प्रारम्भ में अणुव्रती के अतिरिक्त दो अन्य श्रेणियों की परिकल्पना नहीं थी। सम्वत् २०११ बम्बई-चातुर्मास में होने वाले पुनरावलोकन में प्रवर्तक श्री ने इनका सुन्दर संविधान किया।

प्रायश्चित्त विधान

मनुष्य आत्म-निष्ठा से व्रत ले और उसे दृढ़ता से निभाये, यह आदर्श है। तथापि मनुष्य में दुर्बलतायें कूट-कूट कर भरी ही रहती हैं। अणुव्रती इस बात के लिये जागरूक रहे—मेरे व्रतों में ज्ञात या अज्ञात भाव से कोई भी स्खलना हुई है तो मैं उसका प्रायश्चित्त करूँ। प्रायश्चित्त के नाना प्रकार हैं। आत्मानुताप अर्थात् अपनी व्रत-स्खलना के लिये आत्म-चिन्तन के समय या अन्य किसी समय आत्म ग्लानि के साथ पश्चात्ताप करे और भविष्य में ऐसी स्खलना न हो, इसके लिये साहस व आत्म-

शक्ति को केन्द्रित करे। इस प्रकार के अन्तर-प्रायश्चित्त के साथ उपवास, मौनव्रत, खाद्य पेय के द्रव्यों में कमी करना और स्वाध्याय ध्यान आदि भी सम्मिलित हैं।

अणुव्रत-आन्दोलन के इस साधना-क्षेत्र में प्रवर्तक आचार्य श्री तुलसी मार्गदर्शक हैं। व्रत भंग की स्थिति में अणुव्रती उनसे प्रायश्चित्त व पुनरालोचन की विधि पा सकेंगे और नियम ग्रहण करने में एक पुनीत प्रेरणा। अणुव्रत-आन्दोलन और आचार्य श्री तुलसी के बीच आध्यात्मिक सम्बन्ध की यही एक कड़ी है।

अहिंसा-अणुव्रत

शास्त्रकारों ने गाया—"अहिंसा प्राणी मात्र के लिये कल्याणकर[1] है", "अहिंसा प्राणी मात्र के लिये प्रशस्त आचरण योग्य कही गई है"[2], "किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिये"[3]। शास्त्रों की बात शास्त्रों तक ही नहीं, मनुष्य के जीवन में भी आई है। यदि ऐसा न होता, तो परिवार, समाज आदि रूप समष्टि जीवन की कोई स्थिति ही नहीं बनती। एक क्षण के लिये भी मानव-व्यवहार से यदि अहिंसा सर्वांशतः निकल जाये तो मानव जीवन की सारी समष्टियां व्यष्टि में परिणत हो जायेंगी। मानव मानव को खाने के लिये दौड़ेगा और समस्त संसार में एक विप्लव मच जायेगा। अहिंसा ही एक ऐसा सूत्र है जिसमें समस्त मानव-मनके पिरोये जाकर मानव समाज रूप एक माला बनी है। फिर भी मनुष्य के जीवन-व्यवहार में हिंसा की प्रबलता है और इसी हेतु उसे आये दिन नाना समस्याओं का सामना करना पड़ता है और नाना आतंक भोगने पड़ते हैं। अणुव्रत-भावना है—अहिंसा के विकास का स्रोत मानव समाज में प्रतिक्षण आगे बढ़ता रहे और हिंसा की मात्रा घटती जाये। मनुष्य विवेकशील प्राणी है। उसी में यह सब सम्भव है। एक पशु की मांद में दूसरा पशु आ घुसता है उसे समझा कर विदा करने का

१—अहिंसा सब्बभूय खेमंकरी (जैन)

२—अहिंसा सब्ब पाणानं अरियोति पवुच्चति (बौद्ध)

३—मा हिंस्यात् सर्व भूतानि (वैदिक)

उपाय पशु समाज में विकसित नहीं है। छुरीना, भपटना, नोंचना आदि ही वहाँ अधिकार रक्षा के एक मात्र साधन हैं। मानव ऐसी स्थिति में समझा बुझाकर अहिंसात्मक विधि से ही पहले पहल अपनी समस्या हल कर लेना चाहता है। जीवन में नाना समस्यायें हैं, उन्हें अणुव्रती किस प्रकार अहिंसात्मक विधि से हल करता जाये, वह उसके जीवन का इष्ट विषय होना चाहिये।

अहिंसा एक विराट् तथ्य है। क्षमा, मैत्री, सहिष्णुता, आत्म-संयम, आर्जव, विनय, अभय आदि उनके नाना अणु हैं। एक एक अणु को परखना और नाना समस्याओं पर उसका दृढ़ संकल्पपूर्वक प्रयोग करना ही जीवन-व्यवहार में अहिंसा अणुव्रत है। अहिंसा की तरह ईर्ष्या, द्वेष, काम, क्रोध, मद, माया, लोभ आदि हिंसा के भी नाना अणु हैं, जो जीवन-व्यवहार के वायु मण्डल में छाकर मनुष्य के लक्ष्य को धूमिल ही नहीं, आंखों से ओझल कर देते हैं और उस राही को आधि-व्याधि की भूल भूलैया में भटका देते हैं।

पारिवारिक जीवन में

अहिंसा मनुष्य को निश्रेयस् की ओर बढ़ाने वाली तो है ही, इसके साथ-साथ वह उसके वर्तमान जीवन को भी आलोकित करती है। जीवन-व्यवहार का एक भी पहलु ऐसा नहीं जो अहिंसा के आलोक की अपेक्षा न रखता हो चाहे वह पहलू पारिवारिकता रूप या अन्तर्देशीयता रूप हो। इसीलिये तो आर्ष—वाणी में यह उद्‌घोष निकला—"भगवती' अहिंसा भयभीत के लिये शरण,

१—एसा सा भगवती अहिंसा जा सा भिवाणाविव सरणं, पक्खीण विवागमणं, तिसियाण विव सलिलं, खुहियाण विवमसणं, समुद्दमज्झे

पक्षियों के लिये गति, प्यासों के लिये जल, क्षुधा पीड़ित के लिये भोजन, समुद्र तरने के लिये जल—पोत, चतुष्पदों के लिये आश्रय-स्थल, रोगी के लिये औषधि, अटवी में भटकने वाले मनुष्य के लिये साथ-संयोग, जैसा होता है उससे भी विशिष्टतर है।

परिवार से अणुव्रती का समष्टि जीवन आरम्भ होता है। वहां उसे माता-पिता, भाई-बहिन, पत्नी, पुत्र वधू आदि के बीच अनुशासन मानते हुये और मनवाते हुये चलना पड़ता है। वहां यदि वह धैर्य, गाम्भीर्य, औदार्य व आर्जव आदि गुणों को लेकर चलता है तो उसे आत्मिक शान्ति, पारिवारिक जनों का प्रेम, विश्वास और प्रोत्साहन मिलता है और जीवन की गाड़ी सुगमता से चलती रहती है। साथ-साथ क्रोध, मान आदि की अल्पता में निश्रेयस का मार्ग सधता ही जाता है। इसके बदले जहां व्यक्ति आवेश, अहं, स्वार्थ, अनीति व अन्याय का आचरण करता है वहां उसे नित नये सवेरे कलह, आक्रोश, अपमान आदि भोगने पड़ते हैं। उदाहरणार्थ-नौकर यथोचित सेवा नहीं निभा सका या अकस्मात् उससे कोई भूल बन डाली, पट से मालिक का मन क्रोध तथा आवेश से भर जायेगा। वह मूर्ख, बेईमान कहते हुये दो चार गालियां भी दे डालेगा और वश चला तो एक दो चांटे भी। मन में वह विश्वास हो जायेगा कि इसकी भूल का मैंने सही-सही इलाज कर दिया किन्तु बहुधा तो इस विश्वास के बनने से पूर्व ही गालियों के बदले गालियां और चांटे के बदले मुक्का उसकी ओर आने लगता है।

पीतवहणं, परउपयायाणं व आसमवणं, दुहढियाणं व ओसहिबलं, अडविमज्झे विप्पवासाणं ऐत्तो विसिट्ठतरिका अहिंसा।

तत्काल नहीं तो दो चार प्रसंगों के बाद कोई दुष्परिणाम सामने आ ही जाता है। ऐसी घटनायें बहुत देखी जाती हैं कि जहाँ गण्यमान्य व्यक्ति अहंवश छोटे आदमियों पर आवेश में आकर प्रहार कर देता है और उस समय वह यह नहीं सोचता कि मेरी तरह छोटे कहे जाने वाले आदमी को भी आवेश आ सकता है लेकिन ज्योंही वह छोटा आदमी चांटा या जूता लगा देता है तब उसे अपने आवेश के लाभालाभ का ज्ञान होता है। इधर से वह स्वयं पश्चाताप करता है कि मेरे दस चांटे खाकर भी उसने कुछ नहीं खोया और मैंने बाजार में या बहुत सारे लोगों के बीच एक ही जूता खाकर अपनी स्थिति को नष्ट (Position loose) कर दिया है। दूसरी ओर उसके साथी व सगे सम्बन्धी आकर उसकी बुद्धि का अपमान करते हुये शिक्षा देते हैं—"बड़े आदमी को कभी छोटे आदमी के बराबर नहीं होना चाहिये।"

दूसरा पहलू अहिंसा का है जिसके प्रयोग की बात एका-एक मनुष्य सोचता ही नहीं। साधारणतया यह एक धारणा बन गई है कि अहिंसा केवल कायरों का एक मोटी धार वाला शस्त्र है जो केवल धर्म स्थानों में बैठकर दो चार घड़ी के लिये अजमाया जा सकता है। पर बात उल्टी है। जीवन-व्यवहार के प्रसंगों पर भी हिंसा की अपेक्षा अहिंसा अधिक सफल है। मानो कि कमरे के बीच स्याही से भरी दवात पड़ी है। कोई व्यक्ति अचानक आया। दवात के ठोकर लगी। स्याही इधर उधर पुस्तकों व कपड़ों पर फैल गई। उस समय यदि गुस्से में आकर कोई उस व्यक्ति को कहता है। "अंधा होकर चलता है, तुम्हें इतनी बड़ी दवात भी दीखती नहीं? कैसा मूर्ख है।" तो अवश्य यही उत्तर मिलेगा—"मैं क्या

मूर्ख हूँ, मूर्ख है दवात को यों ही बीच में रख देने वाला। यह भी कोई दवात रखने का स्थान है ?" यदि उस परिस्थिति में शान्ति एवं मधुरता से स्याही के बिखरते ही यह कहा जाता है—"अहा किसने भूल से दवात बीच में रख दी।" तो सामने वाला व्यक्ति यह कहता है—"दवात रखने वाले की ही क्या गलती, देखकर तो मुझे भी चलना चाहिए था।" अस्तु-अहिंसा एक सधा हुआ मनोवैज्ञानिक प्रयोग होता है जिसे काम में लेकर सास बहू को, पिता पुत्र को तथा भाई अपने भाई को बिना किसी कटुता के ही आत्म-निरीक्षण की भूमि पर ला सकता है।

यह आप्त वाणी सत्य है—"अपने सुख-दुःख का कर्ता व्यक्ति स्वयं है।"[1] "अपने असंयम के कारण व्यक्ति दुःखी होता है और अपने संयम के कारण व्यक्ति[2] सुखी होता है।" "इसलिये साधक को परदोष द्रष्टा न होकर अपनी आत्मा से अपने आपको ही देखते रहना चाहिये।"[3] "आप भला तो जग भला"—यह कहावत मिथ्या नहीं है। प्राचीन आचार्यों ने इन्हीं तथ्यों को जीवन-व्यवहार में लाने के लिये एक सुन्दरतम कहानी का प्रयोग किया है—"एक धनी सेठ की लड़की केवल लाड प्यार में पली पुसी जब पहली बार ससुराल में आई तो ससुराल के लोग उसे बड़े बुरे लगने लगे। उसका कारण था कि वह स्वयं क्रोध, अभिमान, ईर्ष्या व आलस्य से भरी थी। उसकी प्रकृति के कारण उसे नित्य नये सवेरे

१—अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।

२—अप्पा दन्तो सुही होइ।

३—संपिक्खए अप्पगमप्पएणं।

सास, जेठानी, ननद व अन्य किसी न किसी से झगड़ा मोल लेना ही पड़ता। सारे घर के लोग उससे कतरा गये और वह उन सबसे। चार छः महीने के बाद उसका पिता उसे अपने घर ले जाने के लिये आया। ससुराल के सब लोग इस बात से खुश थे ही और तत्काल उसे अपने पिता के साथ विदा कर दिया। घर आकर पिता ने लड़की से पूछा—बेटा! ससुराल कैसा लगा? उसने कहा—पिता जी! क्या बताऊँ, मैंने तो इतने दिनों में यहाँ आकर सुख की सांस ली है। पिता ने कहा—क्यों, सास श्वसुर अच्छे नहीं हैं? वह बोली—अच्छे क्या, वे तो सचमुच ही डाकी और डाकिन हैं। पिता बोला—तुम्हारा पति? वह तो बना बनाया यमराज ही है। इस तरह एक एक कर उसने सब ससुराल वालों को उपाधियां दीं। उसका पिता बहुत चतुर था। उसने समझ लिया—वास्तव में मेरी लड़की ही बुरी है। उसने उसको ठीक करने के लिये एक अहिंसा प्रधान मनोवैज्ञानिक प्रयोग किया। वह बोला—तेरी ये बातें सुनकर मुझे भी बड़ा कष्ट हुआ है। इस विषय में और तो मैं क्या कर सकता हूँ, क्योंकि ससुराल कभी बदला नहीं जाता किन्तु मैं तुझे एक महामंत्र सिखला दूंगा जिसकी साधना यदि तू छः महीने के लिये भी कर लेगी तो अवश्य सारा ससुराल तेरे वश में हो जायेगा। यह सुनकर लड़की बड़ी प्रसन्न हुई और बोली—पिता जी! ऐसी साधना तो मैं कर ही लूंगी, चाहे वह कितनी ही कठिन क्यों न हो।

बहुत दिन हुये, ससुराल से उसे लेने के लिये कोई नहीं आया। पिता जानता था कोई आयेगा भी नहीं। इसलिये उसने एक दिन अपनी लड़की को बुलाकर कहा—बेटी! आज मैं तुझे तेरे ससुराल पहुँचा आता हूँ। लड़की बोली—पिता जी! मुझे वह मंत्र तो बता दीजिये। नहीं तो वहाँ मेरा काम

कैसे चलेगा ? पिता ने उसे नमस्कार मंत्र सिखलाया और कहा—इसकी साधना यह है कि कोई तुम्हारे पर क्रोध करे, तुम्हें गाली दे या भला बुरा कहे तो चुप रहकर मन ही मन इस मंत्र का जाप करती रहना। पर याद रखना एक बार ही यदि यह साधना भंग हुई तो पिछली साधना का सारा फल नष्ट हो जायेगा।

* * * *

बिना बुलाये बहू घर आ गई। सब लोग टेढ़ी नजरों से उसे देखने लगे। पिछली बातों को याद कर कुछ उपहास करने तो कुछ ताना मारते थे। पर वह अपनी मंत्र साधना में तल्लीन रहती और अपना कर्त्तव्य निभाती जाती। तीसरे ही दिन की बात होगी उसकी ननद व देवरानी जेठानी उसके साथ जब अपमानजनक व्यवहार कर रही थी तो सास ने उन सबको डांटा और कहा—जब बहू तीन दिनों से किसी को कुछ भी बुरा भला नहीं कह रही है और तुम सब इसके पीछे पड़ रही हो, यह बहुत बुरी बात है। मैं ऐसा सहन नहीं करूंगी। यह सुनकर बहू को बहुत आश्चर्य हुआ कि सास मेरा पक्ष लेती है। क्योंकि उसके जीवन में ऐसा देखने का यह पहला ही अवसर था। उसे अब स्पष्ट लगने लगा कि मेरे मन्त्र का प्रभाव अब शुरू हो गया है। दिन बीते। महीने बीते। वह सबको प्यारी लगने लगी। घर का झगड़ा शान्त हो गया और घर में प्रेम की अविरल धारा बहने लगी। छः महीने के बाद पिता पुनः लड़की को लेने आया तो ससुराल वालों ने कहा—इतनी जल्दी आप लेने के लिये न आया करें। बहू के बिना हमारे घर में काम नहीं चलता। आज तो इसे ले जाइये पर वापिस जल्दी पहुँचा देना।

पिता ने घर आकर लड़की से पूछा—बेटा ! मन्त्र कैसा रहा ? उसने कहा—पिता जी ! मन्त्र क्या था, जादू ही था ! छः महीने की क्या बात केवल तीन महिनों में ही सब घर वालों पर मेरा प्रभाव छा गया ! अब तो मुझे मेरे सास श्वसुर देवी देवता जैसे लगते हैं और पति परमेश्वर जैसा।"

यह है पारिवारिक जीवन-व्यवहार में क्षमा व सहिष्णुता के प्रयोग का परिणाम। अणुव्रती का ध्येय आत्म-गवेषण का होना चाहिये। इससे परोक्ष के साथ-साथ प्रत्यक्ष भी सधेगा।

सामाजिक एवं सार्वजनिक क्षेत्र में

जब अणुव्रती पारिवारिक जीवन से सामाजिक एवं सार्वजनिक क्षेत्र में प्रवेश करता है तब भी उसकी सफलता की कुंजी अहिंसा ही रहती है। विचार-भेदों के वातावरण में भी शान्ति, धैर्य व सहिष्णुता को अपना कर ही वह आगे बढ़ सकता है। मत-भेद में भी उसे समन्वय की राह खोजनी चाहिये। आर्जव (सरलता), नम्रता आदि अहिंसक गुण उसके जीवन को ऊँचा उठाने वाले होते हैं। अहंवाद तो संघर्षों का मूल है ही। जीवन में जितने ही असामंजस्य खड़े होते हैं वे सब अहंवाद (मैं वाद) के परिणाम हैं। अहंवाद की त्रिपदी ऐसे बनती है:—

१—बुद्धिमान कौन है ? —जो मेरी तरह सोचता है।
२—मूर्ख कौन है ? —जिसके विचार मेरे से नहीं मिलते।
३—आदर्श क्या है ? —जिस पर मैं चलता हूँ।

दूसरे किसी व्यक्ति को परखने का हर एक व्यक्ति के पास अपना-अपना यही मान दण्ड है। इससे नाप तौल कर किसी व्यक्ति के विषय में हर एक अपनी राय देता है। यहां तक तो

एक मनोवैज्ञानिक वास्तविकता है। इसके अतिरिक्त कोई हेय और उपादेय को समझने का व्यावहारिक मान दण्ड बनता ही नहीं। पर उलझन वहाँ पैदा होती है जहाँ वह अपने अहं को आगे बढ़ाकर दूसरों से भी अपनी ही राह पर चलने का आग्रह करता है। बात ठीक है, यदि सारे लोग वैसे ही चलने लगें तो कोई झगड़ा शेष नहीं रहता। पुत्र यदि पिता की इच्छानुसार करे, समाज के सब कार्यकर्ता यदि एक किसी के चाहने पर ही चलते रहें, सब राष्ट्र यदि दूसरे राष्ट्र की, उदाहरणार्थ रूस और अमेरिका में से कोई एक दूसरे की सारी शर्तें मान ले तो कोई असमंजसता पैदा नहीं होती। पर यह कैसे हो? जैसे एक व्यक्ति चाहता है वैसे दूसरा व्यक्ति क्यों न चाहे कि सब लोग वैसे चलें जैसे मैं चाहता हूँ। मानस की यही वास्तविकता जीवन-व्यवहार में अनुपात लाने के लिये समन्वय व समझौते की बात लाती है। एक दूसरे का सहयोग कायम रखने के लिये दोनों को एक दूसरे के सामने झुकना पड़ता है। यहीं से वह समष्टि व्यष्टि का मार्ग पकड़ लेती है। जो जितना बड़ा दायित्व रखता है उसे उतने ही अधिक समझौते करने पड़ते हैं। अर्थात् उसे उतनी ही अधिक "नम" खानी पड़ती है। अस्तु-इस प्रकार अणुव्रती यदि सामाजिक व सार्वजनिक क्षेत्र में समन्वय एवं समझौते के आधार पर आगे बढ़ते रहें तो पग-पग पर आने वाली समस्याओं से मुक्त होंगे और जिन हिंसा-मूलक भावनाओं को वे अपने जीवन का सहज धर्म मान बैठे हैं उन्हें अनावश्यक मानने लगेंगे। परिणाम स्वरूप लौकिक और पारलौकिक जीवन के दोनों पक्ष "सत्यं शिवं सुन्दरं" के समीप होंगे।

हिंसा का ज्वलन्त स्वरूप विभिन्न देशों के पारस्परिक युद्धों और महायुद्धों में प्रगट होता है।

अन्तर्देशीय वातावरण में

वहाँ निर्दयता 'साहस' का रूप लेती है, धूर्तता नीति का रूप लेती है, और मानव का व्यवहार हिंस्र-पशुओं की प्रवृत्ति को भी पीछे ढकेल देता है। लोग कहते हैं—मानव-जीवन के इस पहलू में अहिंसा क्या कर सकती है? किन्तु आज तो विश्व की घटनायें स्वयं तथाप्रकार के प्रश्नों का मुँह तोड़ रही हैं। जहाँ हिंसा से कुछ नहीं हुआ वहाँ अहिंसा ने आकर सामंजस्य स्थापित किया। दक्षिणी और उत्तरी कोरिया से उभरने वाले महायुद्धों के आसारों का शान्त होना, हिन्द-चीन की लम्बी लड़ाई का अन्त होना व चालीस करोड़ भारतीय जनता का अपने देश को विदेशी सत्ता से मुक्त कर लेना इस तथ्य के ज्वलन्त उदाहरण हैं। आज अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भी अहिंसा का पक्ष प्रबल है और ऐसा लगता है इतिहास के पृष्ठों में अहिंसा की विजय का यह स्वर्णिम युग होगा। आज धीरे-धीरे लोगों और नीरों का ध्यान सह-अस्तित्व, अनाक्रमण आदि पंचशील ले रहे हैं। अब और भी आवश्यकता उपस्थित हो गई है, इस दिशा में अहिंसा का विकास अधिकाधिक किया जाय। कौन नहीं जानता अब तक मानव जाति की असीम शक्ति, असीम धन और असीम बुद्धि सैनिक शिक्षण व अस्त्र-शस्त्र के निर्माण में लग रही

है। वही शक्ति यदि अहिंसा के विकास की ओर मुड़ जाती है तो अहिंसा की विजय में चार चांद और लग जाते हैं।

भारतीय विचारधारा के अनुसार मुख्यतः दो प्रकार के प्राणी माने गये हैं—स्थावर और जंगम। स्थावर जिनके एक इन्द्रिय होती है, स्वयं चल-फिर नहीं सकते। जैसे—पृथ्वी, जल, वनस्पति आदि। दो इन्द्रिय से लेकर पांच इन्द्रिय तक के प्राणी जंगम हैं, ये स्वयं गतिशील होते हैं। द्वीन्द्रिय-लट, सीप, कृमि आदि। त्रीन्द्रिय-चींटी, मकोड़ा, जूं आदि। चतुरीन्द्रिय-मक्खी, मच्छर, टिड्डी, बिच्छू आदि। पंचेन्द्रिय-गाय, भैंस, मछली, सर्प, मोर, कबूतर, मनुष्य आदि। अणुव्रती के लिये चलने-फिरने वाले निरपराध प्राणी की संकल्पपूर्वक की जाने वाली हिंसा वर्जित है। सामान्यतः हिंसा तीन कारणों से होती है—समारम्भ, विरोध और संकल्प।

संकल्पी हिंसा

समारम्भ—जहां व्यक्ति का ध्येय किसी जंगम (त्रस) प्राणी को मारने का नहीं होता किन्तु कृषि, वाणिज्य, गृह-निर्माण, गमनागमन आदि समारम्भ में अनायास द्वीन्द्रिय आदि प्राणियों की हिंसा हो जाती है।

विरोध—जहां व्यक्ति अपने पर आक्रमण करने वाले मनुष्य, पशु, पक्षी आदि पर प्रहार करता है।

संकल्प—यत्किंचित प्रयोजन व निष्प्रयोजन व्यक्ति स्वयं आक्रान्ता होकर संकल्पपूर्वक मनुष्य, पशु, पक्षी आदि की हिंसा करे।

यद्यपि नियम में संकल्पजा हिंसा का ही निषेध है तथापि इस प्रकार की अन्यान्य हिंसाओं से बचना भी अणुव्रती

का आदर्श है। सांप, बिच्छू आदि जहरीले जानवरों को लोग घातक समझकर देखते ही मार देने का प्रयत्न करते हैं। बहुत सारे लोग उन्हें पकड़ कर किसी दूर एकान्त स्थान में छोड़ देते हैं। अणुव्रती पहले प्रकार से तो अवश्य बचे।

टिड्डी, बन्दर व कुत्तों की हिंसा

बन्दर, मोर, हिरण आदि जानवरों को लोग खेती के विध्वंसक समझकर मारने और मरवाने का प्रयत्न करते हैं। अणुव्रती एक अहिंसा-निष्ठ प्राणी है। वह यह मानते हुये—"अपना जीवन सबको प्रिय है"[1] इस प्रकार की हिंसा से बचे।

टिड्डी मारने का भी आजकल एक ज्वलन्त प्रश्न है। टिड्डियां खेती का सर्वनाश करती हैं अतः उनकी हिंसा संकल्पजा न होकर विरोधजा है ऐसी भी एक दृष्टि है। राजकीय व्यवस्थाओं से भी कभी-कभी सर्वसाधारण जनता को टिड्डी मारने मरवाने को बाध्य किया जाता है। ऐसी स्थिति में अणुव्रती क्या करे, यह एक प्रश्न है। अणुव्रती साधना के मार्ग पर है। उसका प्रयत्न यथासाध्य हिंसा से बचना होता है। तथाप्रकार की हिंसा संकल्पजा है या विरोधजा इस विवाद को छोड़ कर भी अणुव्रती का आदर्श यही होना चाहिये कि वह तथोक्त हिंसा से बचे ही।

शहरों में कुत्तों को मरवा डालना भी नगरपालिकाओं ने सुधार की दिशा में हो सकने वाला पहला कार्य मान लिया है। स्थिति यह है "मानव महान्" के इस युग में मनुष्य की सुख-सुविधा में रोड़ा बनने वाले सभी प्राणी जीवन के किनारे

---

१. सव्वेसिं जीवियं पियम्।

पर खड़े हैं। आज का भौतिकवादी मनुष्य जहाँ वश चलता है वहाँ ऐसे प्राणियों को मार देने के अतिरिक्त कोई अन्य मार्ग सोचता ही नहीं, ऐसा लगता है। हो सकता है कुत्ते शहरी जीवन की नागरिक-व्यवस्था में कुछ गड़बड़ी पैदा करने का अपराध करते हैं, किन्तु सड़कों पर चलते हृष्टपुष्ट कुत्तों को जहरीला खाद्य जब नगरपालिकाओं के कर्मकर डालते हैं और कुत्ते उन्हें खाकर अपने जीवन की सारी शक्ति केवल दो चार छटपटाहट में पूरी करते हैं, यह दृश्य देखने और सुनने वाले लोगों को रोमांचित करता हुआ अनिर्वचनीय व्याकुलता में डाल देता है। अणुव्रती कभी-कभी पूछा करते हैं नगरपालिका के सदस्य व अध्यक्ष होने के नाते हम ऐसी व्यवस्थाओं के विषय में क्या करें। उत्तर स्पष्ट है—उक्त प्रकार के कार्यों के लिये कभी भी मतदान न करे।

घरेलू वातावरण में भी अणुव्रतियों को समारम्भ हिंसाओं से बचना आवश्यक है। बहुत सारी बहिनें सवेरे उठते ही बिना कुछ देखे चुल्हा जला डालती हैं। ऐसी असावधानी में बहुत बार त्रस प्राणियों की निरर्थक हिंसा हो जाती है। बहुधा घी, तेल, अचार आदि के बर्तन लोग खुले छोड़ देते हैं। उससे अपने घी, तेल, अचार आदि के साथ साथ बहुत सारे त्रस प्राणियों का नाश होता है। जहाँ बहुत सारा अनाज एक साथ संग्रहीत कर असावधानी से रखा जाता है, उसमें अगणित घुन, इल्ली, लट आदि पैदा हो जाते हैं। उसी धान को बिना कुछ देखे चक्की में पीसने के लिये दे दिया जाता है तो वहाँ कितनी निर्मम हिंसा होती है। अस्तु, इन्हीं असावधानियों से जूँ, खटमल, चींटी, मच्छर आदि पैदा किये जाते हैं और फिर उनकी हिंसा की अनिवार्यता अनुभव

करते हैं। यह अहिंसा की साधना का मार्ग नहीं है। अणुव्रती को विवेक से अहिंसा के पथ पर बढ़ना है, अतः वह उपयोग रखे कि मेरी असावधानी से न तो उक्त प्रकार के जीवों की उत्पत्ति हो और न मैं उनकी हिंसा का भागी बनूं।

आत्म-हत्या

सामान्यतः हर एक व्यक्ति का जीवन संघर्ष सम्पन्न होता ही है। ऐसा कौन व्यक्ति होगा जिसके जीवन में ज्वार भाटे-सी उथल-पुथल कभी भी नहीं आती हो। इसलिये महाकवि कालीदास ने कहा था—"जीवन की दशा रथ-चक्र की तरह ऊपर और नीचे होती ही रहती है। किसने जीवन में सुख ही सुख देखा और किसने दुःख ही दुःख"। इसलिये मनुष्य को धैर्य और संयम के साथ जीवन का कंटकित मार्ग पार करना पड़ता है। उन संघर्षों को न सह सकने के कारण मनुष्य मरने की सोच लेता है और कभी कभी अस्वाभाविक प्रयत्न से अपने आप मर भी जाता है। उसे आत्म-हत्या कहते हैं। आत्म-हत्या के नाना प्रकार होते हैं—विष खा लेना, फांसी ले लेना, ऊँची इमारत से गिर पड़ना व रेल की पटरी पर सो जाना आदि आदि। आत्म-हत्या के तरीकों की तरह आत्म-हत्या के कारण भी स्पष्ट हैं—सट्टे आदि में धन खो देना, गृह-कलह का उग्र रूप लेना व किसी के प्रेम तथा मोह में आसक्त होना और इस युग में चला हुआ नया कारण परीक्षा में अनुत्तीर्ण होना आदि।

कुछ व्यक्ति कहा करते हैं "आत्म-हत्या नहीं करूँगा"

१—नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।
कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा॥

इस प्रकार के नियम की कोई महत्ता नहीं है। मरने की स्थिति पर पहुँचा हुआ व्यक्ति क्या कभी अपने नियम की बात याद करेगा? इसमें तो कोई दो मत नहीं होगा—इस प्रकार का संकल्प करना व्यक्ति को आत्म-बल देता है। नियम करते समय अवश्य उसके हृदय में ऐसा संस्कार जमता है कि मैं किसी भी कठिन परिस्थिति में आत्म-हत्या तो नहीं करूँगा। यह संस्कार व्यक्ति को आत्म-हत्या करने की स्थिति तक पहुँचने से पहले ही अवश्य रोकेगा। अपघात की ठान लेने के पश्चात् भी केवल पिछली प्रतिज्ञा को याद कर वह अपघात करते करते बचा, ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं। इसलिये नियम की उपयोगिता अक्षुण्ण है।

कुछ लोग इस विषय में यह भी कहा करते हैं, अपने आप कौन मरता है। जीना सबको प्रिय है। आदमी सबसे अधिक चिन्ता अपने जीवन की रखता है। धन भी उसे प्रिय है पर जब डाकू पिस्तौल तानकर तिजोरी की कुञ्जी मांगता है तब कोई भी व्यक्ति प्राण-रक्षा के हेतु डाकू के कथनानुसार कुञ्जी उसे संभलाता है और अपना सब धन खोकर भी प्राणों की रक्षा करता है। ऐसी स्थिति में आत्म-हत्या नहीं करूंगा, इस प्रकार के व्रत-ग्रहण का क्या मतलब ?

यह कहना ठीक है कि धन से भी प्राण अधिक प्रिय होते हैं, पर यह ध्यान रखना चाहिये निराशा, अपमान आदि ऐसी स्थितियाँ हैं जो बहुत बार प्राणों के महत्व पर भी छा जाती हैं। जापान के लोग इस विषय में बहुत आगे हैं। निन्दा, तिरस्कार आदि कारणों से "हाराकिरी" (आत्म-हत्या) कर लेना श्रेयस्कर समझा जाता है। वहां की राजकीय व्यवस्था में यह अपराध नहीं माना जाता है और धर्म

शास्त्रों में पाप नहीं माना जाता है। वहाँ आत्म-हत्यायें बहुत होती हैं। भारतवर्ष में भी यह दैन्य स्थिति बढ़ती ही पाई जाती है। बम्बे युनिवर्सिटी के मध्य में रहे उन्नततर घंटाघर पर किसी विद्यार्थी को चढ़ने नहीं दिया जाता क्योंकि परीक्षा का असफल परिणाम सुनते ही वहाँ से कुछ विद्यार्थी आत्म-हत्या कर चुके हैं। बम्बे सरकार को परीक्षा परिणाम प्रकाशित करने के दिन समुद्र के किनारे, रेल की पटरियों व तथाप्रकार के अन्य स्थानों पर पुलिस की विशेष व्यवस्था करनी पड़ती है। दिल्ली में कुतुबमीनार पर किसी अकेले आदमी को चढ़ने नहीं दिया जाता क्योंकि वहाँ अब तक अनेकों आत्म-हत्यायें हो चुकी हैं। आत्म-हत्याओं के सारे आंकड़े यदि मिलाये जायें तो एक वर्ष में सारे देश में दश, बीस हजार की संख्या होगी। केवल उत्तरप्रदेश में सन् १६५४ में १०८०८ आत्म-हत्यायें सरकार की जानकारी में आई हैं। अभी सौराष्ट्र के मुख्य-मन्त्री ने बढ़ती हुई आत्म-हत्याओं से घबड़ाकर इस सम्बन्ध में एक विशेष समिति नियुक्त की है। वहाँ विगत ६ महीनों में २८८ महिलाओं ने आत्म-हत्यायें कीं, ऐसा सूचित किया गया[1] है। अस्तु यह अत्यन्त आवश्यक है; जन-जन में छाया हुआ आत्म-साहस का दैन्य शीघ्रातिशीघ्र मिटे। आत्म-हत्या के कारणों की खोज लगाई जा रही है, गरीबी, प्रेम में असफलता, अपमान आदि कारण हैं पर इन सब में आत्म-बल व सहिष्णुता का अभाव प्रमुख है। मरना कौन चाहता है, यह कहने वाला वस्तु स्थिति से परे है।

दूसरी बात आत्म-हत्या को सभी धर्मों में एक महापाप

[1]—नवभारत टाइम्स बम्बई ११—११—५१

माना गया है और वह राज्य-नियम से भी भारी अपराध है। अणुव्रती के जीवन में कैसी भी प्रतिकूल स्थिति क्यों न आये, उसको सहिष्णुता व आत्म-बल के साथ सामना करना चाहिये। जीवन के कष्टों से घबराकर आत्म-हत्या की सोचना कायरता और क्लीवता है जब कि अणुव्रती का ध्येय आत्म-बल को बढ़ाना है।

अनशन

अज्ञानवश कुछ लोग आमरण अनशन को भी आत्म-हत्या समझ लेते हैं यह भूल है। अनशन में और आत्म-हत्या में दिन-रात का अन्तर है। आत्म-हत्या राग-द्वेष के वश होती है और अनशन राग-द्वेष रहित होकर आत्म-शुद्धि की भावना से किया जाता है। वह तो परम पुरुषार्थ का परिचय है और मृत्यु के सामने निर्भयता है जब कि आत्म-हत्या परम कायरता और मोह दशा का परिणाम है।

शील-रक्षा

शील की रक्षा के लिये कभी कभी सती स्त्रियों को प्राण उत्सर्ग कर देने पड़ते हैं, वह भी आत्म-हत्या नहीं है। वहाँ उस वीर महिला की भावना जीवन-मोह से ऊपर उठ कर आत्मा की एक सनातन सत्ता पर केन्द्रित होती है और वह अपने शील का महत्व प्राणों से बहुत ऊँचा आंकती है जैसे कि आंकना ही चाहिये।

गर्भ-हत्या

गर्भ-हत्या अवांछनीय कर्म है जो प्रायः पिछले पाप को ढांकने के लिये किया जाता है। एक पाप कर फिर दूसरे पाप का आवरण उस पर डालना यह धंधा कुछ

व्यक्तियों के साथ चल सकता है पर आत्मा के साथ नहीं। गर्भ-हत्या की भावना में शिशु-हत्या की भावना भी आ जाती है। शिशु-हत्या के कुछ कारण और भी हो सकते हैं। लड़कियों को जन्मते ही मार देना, यह भारतवर्ष की कुछ सभ्य कही जाने वाली जातियों में चला और कुछ अंशों में आज भी मौजूद है। वस्तुतः तथाप्रकार की शिशु-हत्या व गर्भ-हत्या मानवता की हत्या है।

प्रसव के समय जब कि माता और शिशु दोनों का जीवन खतरे में हो उस समय के चिकित्सा-प्रयत्न गर्भ-हत्या के नियम में नहीं आते।

हत्या व विध्वंसात्मक प्रवृत्ति

सभ्य समाज में किसी की हत्या करना एक पाशविक वृत्ति है तो भी विचार और प्रवृत्तियों की असहिष्णुता से किसी की हत्या कर डालना समाज में एक बीमारी के रूप में मौजूद है ही। निकटभूत और सुदूर-भूत के इतिहास के पृष्ठ ऐसी घटनाओं से रक्त-रंजित हैं और वर्तमान में उठती हुई संघर्षमूलक व हिंसानिष्ठ भावनायें तथा प्रकार की दुर्घटनाओं के लिये सम्भावनायें और अवसर लिये प्रस्तुत हैं। अणुव्रती को तथाप्रकार के वातावरण से कोसों दूर रहना ही अभीष्ट है।

हत्या के नाना प्रकार हैं। कुछ हिंसायें व्यक्तिगत होती हैं जिनका हेतु वैयक्तिक द्वेष या स्वार्थ-पोषण होता है। कुछ हत्यायें सामूहिक प्रयत्न का परिणाम होती हैं। वैयक्तिक हत्यायें सर्वसम्मति से निन्द्य हैं ही, सामूहिक हत्याओं के विषय में लोग देश की भलाई, अन्याय का प्रतिकार आदि सिद्धान्तों की भी आड़ लेते हैं। विचारों की गहराई में पहुँचने

से किसी प्रकार भी तथाप्रकार की हिंसा व तोड़-फोड़मूलक प्रवृत्तियों को नैतिक व वैध नहीं बताया जा सकता।

तोड़-फोड़ व विद्यार्थी

तोड़-फोड़ अर्थात् विध्वंसात्मक प्रवृत्ति की बात तो आजकल और भी व्यापक हो गई है। आये दिन देश में विद्यार्थियों के उपद्रव होते रहते हैं। गोलियाँ तक चल जाती हैं। बहुतों के प्राण-न्योछावर हो जाते हैं। देश की यह एक जागरूक समस्या हो गई है। ऐसा क्यों होता है यह एक लम्बा प्रश्न है। अधिकांशतया विद्यार्थी समाज को अध्यापक-वर्ग से व राज-व्यवस्था से किसी असामंजस्य का होना ही उसका हेतु बनता है। हो सकता है कहीं कहीं विद्यार्थी-वर्ग के साथ न्याय नहीं बरता जा सका हो तथापि विद्यार्थी-वर्ग का इस स्थिति तक पहुँच जाना किसी प्रकार उचित नहीं माना जा सकता। विद्यार्थियों का कोई भी स्वार्थ इतना बड़ा नहीं होता कि जिसके लिये उन्हें अपने प्राण हथेली पर रखकर प्राण-उत्सर्ग के लिये भी तैयार हो जाना पड़े। मान लिया जाय समस्या के सुलझने में व्यर्थ का विलम्ब हो रहा है, विद्यार्थी-वर्ग की उपेक्षा हो रही है या समस्या सुलझान का कोई आसार ही नहीं दीख रहा है, तथापि वह समस्या उनके जीवन के साथ लम्बा सम्बन्ध नहीं रखती। हां, चार या पाँच वर्षों के बाद तो उन्हें विद्यार्थी-जीवन से सदा के लिये विदा ले ही लेनी है। ऐसी स्थिति में इतने उत्सर्ग के लिये कटिबद्ध हो जाना केवल अदूरदर्शिता व भावावेश का परिणाम है।

आज की जनतांत्रिक व्यवस्था में अधिकार व न्याय प्राप्ति के लिये सत्याग्रह व असहयोगात्मक प्रयत्न होते रहते हैं।

यह आज की समाज-व्यवस्था में कार्य-सिद्धि की एक मर्यादा है किन्तु इससे आगे तोड़-फोड़ और विध्वंस के रास्ते पर चले जाना यह तो सचमुच विद्यार्थी समाज के लिये कलंक की बात है। अणुव्रती विद्यार्थी हमेशा ऐसी प्रवृत्तियों में असहयोग रखेगा।

आज विद्यार्थी-समाज को अपना दायित्व समझने की अपेक्षा है। सुन्दर समाज-व्यवस्था के नैतिक निर्माण के लिये आज की पीढ़ी विद्यार्थियों पर आँख लगाये बैठी है। आज वे अनुशासनहीनता का परिचय देकर अपना ही भविष्य संकटमय बना रहे हैं। उन्हें भूलना नहीं चाहिये आज हम जिन अध्यापकों से व अधिकारियों से झगड़ रहे हैं कल उनकी कुर्सी पर हमें ही बैठना है। देश की सारी जिम्मेवारियाँ हमारे पर आने वाली हैं। अनुशासनहीनता, उद्दण्डता व ध्वंस के बीज आज जो हम बो रहे हैं, उनके फल दो कदम आगे चल कर हमें ही भोगने पड़ेंगे। यह माना कि आज का विद्यार्थी सुसंगठित है। एक स्कूल के विद्यार्थी परस्पर ही संगठित नहीं, वे एक प्रान्त, देश व समस्त संसार के अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों से सम्बद्ध हैं। वे चाहें तो किसी भी प्रान्त व देश में शासन-व्यवस्था को हिला देने वाली हलचल पैदा कर सकते हैं, किन्तु उन्हें मानकर चलना चाहिये हमारा संगठन हमारे सामुदायिक जीवन-विकास के लिये है न कि देश में विक्षोभ पैदा करने के लिये।

विद्यार्थी व राजनीति

विद्यार्थियों की हलचलों का एक कारण यह भी है कि वे किसी दल-गत राजनीति में पड़कर अवसर आने से उत्पात मचाने पर उतारू हो जाते हैं। प्रथम तो विद्यार्थी-

जीवन का सक्रिय राजनीति में रस लेने का ध्येय ही नहीं। राजनीति में ध्यान बंट जाने से वे विद्यार्जन में आगे नहीं बढ़ सकते जो कि उनके जीवन का ध्येय है। राजनीति में भाग लेकर भी तोड़-फोड़ की सीमा तक पहुँच जाना यह तो वैधानिक अपराध भी है जिसमें फंसकर बहुधा विद्यार्थी सदा के लिये अपनी मंजिल को छोड़ कर इधर उधर भटक जाते हैं।

तोड़-फोड़ व मजदूर

तोड़-फोड़ की बात विद्यार्थियों की तरह मजदूरों से भी आरम्भ होती है। पूंजीपतियों के साथ उनके जीवन का घनीभूत स्वार्थ जुड़ा रहता है। उनका संघर्ष विद्यार्थियों की तरह केवल भावावेश नहीं होता। वहाँ उनके जीवन की मूलभूत कड़ियों पर पूंजीपतियों के कठोर प्रहार होते रहते हैं। वे शोषण की निरन्तर वेदना से व्याकुल होकर छटपटाते रहते हैं। उनके शोषित कलेवरों की अवशेष शक्ति जब केन्द्रित होकर फूट पड़ती है तब हत्या व तोड़-फोड़ के लिये वे उठ खड़े होते हैं। पर अणुव्रत-जीवन-दर्शन के अनुसार हिंसा व तोड़-फोड़ का मार्ग उनके लिये भी उतना ही अप्रशस्त है जितना विद्यार्थियों के लिये। हिंसा किसी समस्या का अन्त नहीं कर देती प्रत्युत प्रतिहिंसा को और पैदा कर देती है। इससे तो समस्या और जटिल होती है। उद्योगपतियों द्वारा होने वाले शोषण में पहले केवल अर्थ-संग्रह ही हेतु था अब उसमें प्रतिहिंसा व विद्वेष और मिल जाते हैं। हिंसा के उत्तेजन के साथ-साथ ये भी उसी मात्रा में बढ़ते ही जायेंगे। समस्या सुलझने के बदले और जटिल होती जायेगी। उसमें कोई भी पक्ष का हित सधेगा, यह सोचा ही नहीं जा सकता।

प्रश्न रहता है बेचारे मजदूर करें क्या ? पहली बात तो यह है अणुव्रत-आन्दोलन जैसे अहिंसा की बात मजदूरों से कहता है, वैसे ही अशोषण की बात उद्योग-पतियों से। उसका पक्ष न्याय का है, अशोषण व अहिंसा का है न कि मजदूरों व पूंजी-पतियों का। इसकी रूप-रेखा में जितने नियम मजदूरों द्वारा होने वाली अनैतिकताओं के लिये हैं उतने ही नियम पूंजी-पतियों द्वारा होने वाली अनैतिकताओं के लिये भी हैं। इस समस्या पर अणुव्रत-दृष्टि यही है अहिंसा व प्रेम के आधार पर दोनों पक्षों के असत्संकल्प दूर होते रहें और समन्वय और मैत्री की भावना बढ़ती रहे। उक्त कथन का यह तात्पर्य नहीं कि मजदूर अपने उचित अधिकारों की मांग व उसकी पूर्ति के हेतु नैतिक प्रयत्न भी न करें। उसकी मर्यादा तो यहीं तक है कि मजदूर वर्ग-असहिष्णु व भावावेशी बनकर तोड़-फोड़ व रक्त-क्रान्ति के लिये प्रस्तुत न हों। इस युग में अहिंसा ने ही जब बड़ी बड़ी समस्यायें सबके सामने हल कर दी हैं तो रक्त-क्रान्ति का असामयिक मार्ग वे न अपनायें।

तोड़-फोड़ की और भी अनेक प्रसंगों पर सामूहिक घटनायें देश में होती रहती हैं। मनोभावना के प्रतिकूल किसी कानून का बनना प्रान्त, भाषा, जाति, धर्म आदि हेतुओं से किसी मत-भेद का खड़ा होना आदि उनके अनेक कारण हैं। जहाँ तक पुलिस व जनता के झगड़े का प्रश्न है अणुव्रती सहज ही अपने आपको ऐसे झगड़ों में भाग लेने से बचा सकता है। परन्तु कई झगड़े जाति, धर्म आदि को लेकर जनता जनता के बीच खड़े हो जाते हैं, जैसे कि हिन्दुओं व मुसलमानों के बीच होते रहे हैं। वैसी स्थिति में

अणुव्रती क्या करे, यह एक प्रश्न है। क्योंकि एक ओर उसे तोड़-फोड़ व हत्यामूलक प्रवृत्तियों में भाग नहीं लेने का नियम है दूसरी ओर आक्रमण-प्रत्याक्रमण के चक्र चल रहे हैं। अपनी जाति, धर्म व मुहल्ले के लोग उसे साथ होने को बाध्य करते हैं। उस समाज में रहते हुये वह अपने आपको यदि किसी प्रकार से भी सहयोगी नहीं बनाता तो अपने वर्ग के लोग उसे गद्दार मानते हैं। इसका समाधान यही है जहाँ तक अपनी तथा अपने वर्ग की रक्षा का प्रबन्ध है उसे उस हेतु से अपने दल के साथ खड़ा होना पड़ता है यह तो इस नियम की भावना के अन्तर्गत आता ही नहीं। जहाँ अपना वर्ग ही आक्रान्ता होता है वहाँ अणुव्रती को उसमें योगभूत नहीं होना चाहिये। बात रह जाती है प्रतिशोध की कि अमुक स्थान पर हमारे वर्ग के लोगों को प्रतिपक्षियों ने मारा है उसके बदले हम यहाँ के निरुपद्रवी लोगों को भी मारें क्योंकि वे उसी जाति व वर्ग के हैं। यह घृणित मनोवृत्ति है। इससे हिंसा की ज्वाला बढ़ती ही जाती है और एक विप्लव फैल जाता है। ऐसे अवसरों पर जनता में धैर्य एवं विवेक को जगाने की आवश्यकता रहती है इस विश्वास पर अणुव्रती अपने जीवन-व्यवहार को समुन्नत बनाने का प्रयत्न करे।

अस्पृश्यता

अस्पृश्यता का आधार जाति है। जातिवाद स्वयं निर्मूल तथा अतात्त्विक है। जाति का अर्थ है समानता। उस समानता के आधार पर पशु जाति से मानव जाति पृथक् हुई। यद्यपि प्राणी वर्ग में मनुष्य तथा पशु दोनों जातियों का समावेश है और प्राणियों में मनुष्य-मनुष्य प्राकृतिक संस्थान से

समान है, इसलिए मनुष्य जाति एक है। आगे चल कर कर्म के आधार पर जब मानव जाति के विभिन्न वर्गों की विभिन्न रूपों में पहचान होने लगी तो अवान्तर जातियों का निर्माण हुआ और समृद्ध जातियाँ अहं-पोषण के लिए अपनी दृष्टि से निम्न कर्म करने वाली जातियों को अस्पृश्य मानने लगीं। यह जातिवाद की तथा अस्पृश्यता की बुद्धिगम्य व्याख्या है।

पौराणिक युग में लोगों ने यह भी माना "ब्रह्मा" के मुँह से जन्मने वाले ब्राह्मण, बाहु से जन्मने वाले क्षत्रिय, उर से जन्मने वाले वैश्य, पैरों से जन्मने वाले शूद्र और अन्त्य में पैदा होने वाले अन्त्यज।[1] पर यह आज के युग में चल सके, ऐसी बात नहीं है। तथाप्रकार की उक्तियों का निराकरण तो आज से सहस्रों वर्ष पूर्व ही हो चुका है। चिन्तन के क्षेत्र में उस समय भी यह निर्विवाद मान लिया गया था—"कर्म से ब्राह्मण होते हैं, कर्म से क्षत्रिय, कर्म से ही वैश्य और कर्म से ही शूद्र। जन्म से न कोई ब्राह्मण है और न कोई शूद्र।[2]" कुछ लोग आजकल भी कहते देखे जाते हैं—वर्तमान जाति व्यवस्था तथा स्पृश्यता-अस्पृश्यता शाश्वत या ईश्वरकृत है; यह अयथार्थ है। ऐसा होता तो केवल भारतवर्ष में ही यह व्यवस्था क्यों? क्या केवल भारतवर्ष की देखरेख ईश्वर करता है? यदि ईश्वर ने ही ऐसा किया है तो आज का तर्कशील मनुष्य उसके साथ भी झगड़ेगा और उसे भी अपनी भूल सुधारने का सुझाव देगा।

१—ब्रह्मणो मुखान्निर्गताः ब्राह्मणाः, बाहुभ्यां क्षत्रियाः, ऊरुभ्यां वैश्याः, पद्भ्यां शूद्राः, अन्त्ये भवा—अन्त्यजाः

२—कम्मुणा बम्भणो होई कम्मुणा होई खत्तिओ।
वइसो कम्मुणा होई, सुद्दो हवइ कम्मुणा॥

वर्तमान जातियाँ शाश्वत हैं इस बात के लिये कोई आधार ही नहीं मिलता। लाखों का नहीं यदि सहस्रों वर्षों का इतिहास भी हम ध्यान लगा कर देखते हैं तो पता चलता है इस बीच में कितनी नई जातियाँ बनी हैं और कितनी नाम शेष हो गई हैं। जैन-मान्यता के अनुसार पहले यौगलिक व्यवस्था थी। सब मनुष्य समान थे। फिर असि (तलवार) मसि (स्याही) और कृषि आदि कर्म आये। वे ही मनुष्य अलग अलग कर्म करने लगे। क्षत्रिय, वैश्य आदि जातियाँ बनीं। यह इतिहास ही हमें स्वयं बताता है कर्म पहचान के अतिरिक्त जाति की कोई वास्तविकता नहीं है। पर आगे चलकर इस जातिवाद को इतना बढ़ावा मिला कि अमुक जाति वाला ही मोक्ष जा सकता है। अमुक जातिस्थ को धर्म-स्थान में जाने का, धर्म करने का, शास्त्र-वाचन या शास्त्र-श्रवण करने का अधिकार नहीं है। "शूद्र यदि वेदों का श्रवण करता है तो उसके कानों में शीशा भर देना चाहिये, वेद मंत्रों का उच्चारण यदि वह करता है तो उसकी जिह्वा निकाल लेनी चाहिये और यदि वह वेद मंत्रों को धारण करता है, तो उसका शरीर-नाश ही कर देना चाहिये'[1]। "अस्तु-ऐसे अमानवीय संस्कारों से अपने ही भाइयों को नीच मानते हुये व उनसे घृणा करते हुये भारतवासियों ने सामाजिक अलाभ भी कम नहीं उठाया। ऐसा करके उन्होंने लाखों करोड़ों भाइयों को स्वजाति तथा स्वधर्म से च्युत होने को विवश किया है। आध्यात्मिक दृष्टि से उन्होंने अपना ही आत्म-पतन किया है। "आत्मवत्सर्व भूतेषु" का आदर्श मानने वाले यदि

१—वेदमुपशृण्वतः त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रयोः प्रतिपूरणम् ।
उदाहरणे जिह्वाच्छेदः, धारणे शरीरभेदः ॥

अपने ही भाइयों के साथ घृणा व अस्पृश्यता की भावना रखने के आग्रही हो जाते हैं, तो इससे अधिक उनका और क्या नैतिक-स्खलन हो सकता है। धर्म-शास्त्रों के अनुसार घृणा कर्म-बन्ध का हेतु है। कुछ भी हो "बीत गई सो बात गई" आज इन प्रश्नों का कोई महत्व नहीं, कि अस्पृश्यता कब से है, किस धर्म ने इसको बढ़ावा दिया, समाज-व्यवहार की यह सुदृढ़ मान्यता कैसे बनी, उससे क्या भला हुआ या उससे क्या बुरा हुआ? आज महत्व है इस प्रश्न का कि उसका अन्त कैसे हो? स्वतंत्र भारत के विधान में अस्पृश्यता को अवैध घोषित कर दिया गया है तथापि लोगों के संस्कारों में वह अब भी बद्धमूल हो रही है। अणुव्रती अपने रूढ़ संस्कारों से ऊँचा उठ कर अस्पृश्यता की मनोवृत्ति को तिलांजलि दे।

क्रूर-व्यवहार

क्रूरता हिंसा देवी का एक सुदृढ़ स्तम्भ है। हिंसा की व्यापकता इसी पर टिकी हुई है। क्रूरता का उपादान स्वार्थ-परता है जो मनुष्य की नस-नस में भरी है और वह उसका दास है।

नौकर और मालिक

स्वामी की क्रूरता नौकर पर रहती है और वह अधिक श्रम लेने की ओर कम से कम द्रव्य देने की नीति बना कर ही चलता है। बहुत थोड़े स्वामी ही यह सोचते होंगे कि नौकर के प्रति मेरा न्याय क्या है? बहुतों के द्वारा तो प्रत्युत नौकर की अतिशय गरीबी, उसके भोलेपन व उसकी श्रमशीलता से अनुपयुक्त (नाजायज़) लाभ उठाया जाता है। मालिक

लोगों की क्रूर व स्वार्थ पूर्णवृत्तियों का नौकरों पर यह असर पड़ा कि वे भी अपने मालिक के साथ सौदागिरी से पेश आते हैं, अपने कर्तव्य पर दृढ़ रहकर नहीं। वे भी यही सोचकर चलने लगे मुझे जब तक इस नौकरी की आवश्यकता है तब तक मालिक के काम का बराबर ध्यान रखना है वह भी इतना कि जिससे नौकरी छूटने की नौबत न आये। नौकर सोचता है अधिक श्रम करके मैं क्यों अपना शरीर गालूं? यही पृष्ठ-भूमि है जो नौकर और मालिक के बीच अपनत्व का अंकुर नहीं फूटने देती। स्थिति यह हो गई है मालिक नौकरों को कोसते हैं कि पुराने जमाने में नौकर कितने स्वामिभक्त हुआ करते थे। आज कल के नौकर तो अधिकांशतः मक्कार, धोखेबाज, काम से जी चुराने वाले होते हैं। इधर नौकर कहते हैं कि कैसा जमाना आया है? पुराने जमाने में मालिक नौकर को पुत्र मानता था। उसके सुख में सुखी व उसके दुःख में दुःखी होता था। आजकल के मालिक मुफ्तखोर व मतलबी हो गये हैं। उनके दिल में नौकर के प्रति न्याय व दया नहीं है। दोष किसका है, नौकरों का या मालिकों का? एकान्त रूप में कुछ भी कह देना असंगत होगा। कुछ भी हो समस्या का अंत इसमें है कि व्यक्ति दूसरे पर दोषारोपण न कर आत्मदृष्टि बने। साधक व अणुव्रती यह न सोचे मेरा नौकर या मेरा मालिक अपना कर्तव्य नहीं निभाता तो मैं भी उसके साथ अनैतिकता करता जाऊँ, यह अणुव्रती का मार्ग नहीं है। वह तो कोई भी सुधार अपने से आरम्भ करेगा और स्वयं का परिमार्जन करेगा। इससे अपनी भी शुद्धि होगी और बद्धमूल समस्या के भी पैर उखड़ जायेंगे।

अतिश्रम लेने की मनोवृत्ति से ही आज मजदूर-वर्ग में तोड़फोड़ के आह्वान उठ रहे हैं। "तोड़

मजदूर और पूंजीपती फोड़ व मजदूर" शीर्षक में यह विवेचन किया गया है कि वे तोड़-फोड़ व रक्त-क्रान्ति के रास्ते पर न जायें, पर यह तभी सम्भव है जब कि पूंजीपति अपनी बद्धमूल शोषणपरक वृत्तियों को छोड़ें और अपने कर्तव्य व न्याय का लंघन न करें। पूंजीपतियों की शिकायत है हमारे औचित्य की मर्यादा क्या? मजदूर तो आजकल हमें मजदूर बनाकर मालिक होना चाहते हैं। उनकी मांगों का कभी अन्त होता ही नहीं। आये दिन हड़ताल व "थोड़ा काम" (slow work) का झंझट उठाकर हमें नुकसान ही पहुँचाते रहते हैं। मजदूरों का कहना है शरीर का खून सुखा कर व पसीना बहा कर माल पैदा करते हैं और हमें मिलता कुछ नहीं, जीवन भर काम करते रह कर भ हम अपने जीवन स्तर (standard of living) को जरा भी ऊँचा नहीं उठा सकते, हम बच्चों को पढ़ा नहीं सकते, बीमार होने पर किसी पारिवारिक जन की पर्याप्त चिकित्सा नहीं करवा सकते जब कि हमारे ही श्रम पर पूंजीपति लाखों-करोड़ों का धन इकट्ठा कर सीमातीत ऐश्वर्य बढ़ाते रहते हैं और धन का उचित-अनुचित उपयोग करते हैं। यह ऐसा वैषम्य है जो सहा नहीं जा सकता, पर इतना तो अब तक स्पष्ट हो चुका है कि जिस पारिश्रमिक पर मजदूर सैकड़ों, सहस्रों वर्षों से जीवन-होम रहे हैं उनके जीवन की इस युग में कीमत बढ़ गई है। धीरे-धीरे उनके श्रम के मूल्य का एक मानदण्ड दुनियां के एक किनारे से आरम्भ होकर दूसरे किनारे की ओर बनता जा रहा है। पूंजीपति वही अपनी राग अलापते रहे, यह

किसी मूल्य पर आज की समाज-व्यवस्था सहन नहीं करती। यह कैसे सम्भव हो सकता है, जब समाज में आमूल परिवर्तन आने के समय पूंजीपति वर्ग उस परिवर्तन से अछूता ही रह जाये जब कि परिवर्तन का मध्य बिन्दु ही अर्थ-संग्रह है। पूंजीपति इस बात को न भूलें कि आज स्वतन्त्र देश के स्वतन्त्र मजदूरों ने समाज-शक्तियों द्वारा अपने आपको मजदूर नहीं, अपितु एक हिस्सेदार के रूप में प्रमाणित करा लिया है। उसके साथ सामंजस्य बिठाने के लिये आज उद्योगपतियों को युग के आलोक में आत्म-निरीक्षण करने व बद्धमूल संस्कारों को बुद्धि व न्यायपूर्वक बदलने की आवश्यकता है।

मजदूरों का इस दशा में यह मानकर नहीं चलना है कि आज हमारा युग है, विश्व हमारे पक्ष की ओर बढ़ रहा है, इसलिये हम पूंजीपतियों से प्रतिशोध लें। प्रतिशोध लेने का तात्पर्य प्रतिशोध भोगना है। इस परम्परा का कभी अन्त नहीं होता। प्रतिशोध की भावना में पड़कर मजदूर कुछ पायेंगे नहीं, खोयेंगे। समस्या का अन्त वैषम्य व विरोध, दोनों के अन्त में होगा। वैषम्य मिटाने की धुन में यदि विरोध को जीवित रख लिया तो समझना चाहिये वैषम्य मिटा नहीं, स्थानान्तरित हुआ। जो पक्ष निर्बल था वह सबल हुआ और जो सबल था वह निर्बल। एक तटस्थ द्रष्टा की दृष्टि से समाज-व्यवस्था का संघर्ष मिटा नहीं उसके कोने (पासे) बदल गये। समय कुछ भी व्यतीत क्यों न हो, दोनों वर्गों का संघर्ष अहिंसा, मैत्री व सामञ्जस्य के धरातल पर समाप्त हो ताकि वह हमेशा के लिये समाप्त ही हो जाय, यह अणुव्रत जीवन-दर्शन है।

मालिक अतिश्रम न ले इसके साथ यह बात भी जुड़ी हुई है कि मजदूर भी श्रम से जी न चुराये। वस्तु की चोरी होती है उसी प्रकार समय की भी चोरी होती है। जो समय जितने मूल्य पर बेच दिया उसे फिर पूर्ण नहीं चुकाना चोरी नहीं तो क्या है? पर यह चोरी मजदूर-वर्ग में बहुतायत से है। इससे मालिक के मन में खीज उत्पन्न होती है और परिणाम स्वरूप गुत्थी उलझती ही जाती है।

समय की चोरी

जो श्रम लोक-व्यवहार में दयनीय माना जाये व नौकरी छोड़ देने की धमकी देकर व कर्मचारी की इच्छा के प्रतिकूल राजकीय प्रतिबन्ध से अधिक श्रम लिया जाये वह अतिश्रम की मर्यादा में आता है। नौकर व कर्मचारी रुग्ण हो फिर भी राजकीय नियम का ध्यान दिलाकर उससे श्रम लेते ही रहना भी अतिश्रम के अन्तर्गत आ जाता है।

अतिश्रम की परिभाषा

क्रूरता के नाना भेदों में खाद्य-पेय का विच्छेद भी एक है। उसके नाना प्रकार हैं। बहुत सारे लोग गाय आदि रखते हैं। जब तक वह दूध देती है, उसकी सार-सम्भाल रखते हैं। दूध नहीं देने की स्थिति में उसे उसके भाग्य-भरोसे छोड़ देते हैं। वह खेतों में, बाजारों में भटकती रहती है। जब पुनः दूध देने की स्थिति में होती है उसे पुनः घर ला बांधते हैं। समझने के लिये यह खाद्य-पेय विच्छेद का सुस्पष्ट उदाहरण है। इससे अणुव्रती तथाप्रकार के अन्य प्रसंगों को भी भली भांति समझ सकता है।

खाद्यपेय व आजीविका विच्छेद

खाद्य-पेय का विच्छेद मुख्यतः क्रोध-भावना व लोभ-भावना से होता है। गरीबी व अन्य तथाप्रकार की विवशता से यदि अणुव्रती अपने आश्रित प्राणियों के प्रति चाहते हुये भी खाद्य-पेय सम्बन्धी दायित्व नहीं निभा सकता तो वह उक्त नियम की भावना में नहीं आता।

आश्रित अर्थात् अपने ऊपर निर्भर रहने वाले स्त्री, पुत्र, नौकर, गाय, भैंस, घोड़े आदि। जो आश्रित खाद्यपेय सम्बन्धी सामग्री पाने का अधिकारी है उसे लोभ या क्रोधादिवश वंचित रखना खाद्य-पेय-विच्छेद है। आश्रित प्राणी की अधिकार मर्यादा क्या है, उसका मानदंड लोक-व्यवहार है या अणुव्रती की स्वयं आत्मा।

आश्रित प्राणियों को खाद्य-पेय आदि देने का दायित्व व्यक्ति का रहता है अतः यहाँ आश्रित शब्द का प्रयोग किया गया है। अनाश्रित प्राणी के खाद्यपेय का विच्छेद करना अर्थात् जो वस्तु जिसके द्वारा जिनको मिल रही है उसे छुड़ा लेना या उसे नहीं पाने देना तो अणुव्रती के लिये वर्जित ही हो जाता है।

प्रश्न आता है यदि कोई अन्य पशु अणुव्रती के घास आदि को खाने लगता है और अणुव्रती उसे दूर करता है तो क्या उसका नियम-भंग है? नहीं। क्योंकि वह उस पशु के अधिकार की वस्तु नहीं है।

गाय आदि को प्रसव-काल पर जो विशेष धान्य वस्य देते हैं और सामान्य अवस्था में नहीं देते वह भी नियम निषिद्ध नहीं है क्योंकि वह तो सर्वजन मान्य व्यवहार है।

बछड़े को व्यवहार्य अवधि से पहले यदि गो के स्तन से दूर किया जाता है तो वह खाद्य-पेय-विच्छेद नहीं है। इसके

विपरीत यदि पूर्णतया वंचित ही रखा जाय या नाम मात्र का स्तन-पान कराया जाये तो अवश्य व्रत-भंग है। खाद्य-पेय की तरह आजीविका-विच्छेद भी निन्द्य व वर्जित है। जितना वेतन जिन नौकर आदि को देना निश्चित किया, उसमें अनुचित नतुनच करके रोकने का प्रयत्न करना व न देना नितान्त अनैतिकता है। इसके साथ स्व या पर किसी व्यक्ति की आजीविका पर प्रहार करना अर्थात् उसे लगी नौकरी से हटवा देना तो अणुव्रती के लिये त्याज्य है ही।

पहले भी बताया गया है कि मनुष्य पशुओं के प्रति न्याय नहीं बर्तता। वह अपने स्वार्थ के सामने

पशुओं पर अतिभार पशुओं के प्राणों का जरा भी मूल्य नहीं मानता। पशुओं के साथ वह अनगिन क्रूर-व्यवहार करता रहता है। इस विषय में बहुत सारी संस्थायें भी जनता का इस ओर ध्यान खींच रही हैं। पशु क्रूरता-विधेयक प्रस्ताव भी संसद् व विधानसभाओं में आने लगे हैं। अणुव्रत-आन्दोलन विभिन्न नियमों से क्रूरता निषेधक भावनाओं को आगे बढ़ाता है। क्रूरताओं के कुछ व्यवहार क्रूर कहलाने वाले आदमियों द्वारा ही हुआ करते हैं पर अतिभार सम्बन्धी क्रूरता तो क्रूर व अक्रूर, सभ्य-असभ्य सभी लोगों में दिखलाई देती है। व्यापारी लोग सोचते हैं बैलगाड़ी में भार लादना है वो गाड़ी के पैसे कौन कटेगा, थोड़े पैसे गाड़ीवान को अधिक देकर एक गाड़ी में दो काम निकाल लेंगे। किसान सोचता है अनाज, घास आदि खेत से घर ले जाना है। बार-बार आने की खटपट अच्छी नहीं। दो बार का काम एक बार में ही होता रहे तो अच्छा। इस प्रकार अनेकों प्रसंग होते हैं जहाँ अति

भाग रूप क्रूरता का पाप मनुष्य सीधे-सीधे कर लेता है। अणुव्रती को इस विषय में अपनी मर्यादायें स्थापित करनी होंगी। पहली मर्यादा उसकी आत्मा है। वह ऐसे प्रसंगों पर उसी से उत्तर ले, यह अतिचार तो नहीं है?

अन्य मर्यादाओं का मानदण्ड लोक-व्यवहार व राजकीय नियम हैं। वह उनका उल्लंघन न करे। जहाँ जितनी सवारी तांगे आदि में बैठने का नियम हो और जहाँ बैलगाड़ी आदि पर जितने मन भार डालने का नियम हो उससे अधिक सवारी न बैठें और न भार डालें।

जहाँ जितने मन भार डालने का कानून है वहाँ दो चार सेर वजन यदि अधिक हो जाता है जो कि कानून दृष्टि से भी नगण्य है तो वह त्याग में बाधक नहीं माना गया है। तांगे आदि में जहाँ तीन या चार व्यक्तियों के एक साथ बैठने का नियम है अणुव्रती यथाक्रम चौथा या पांचवां होकर नहीं बैठे। न वह चार या पांच आदमियों के साथ ही बैठ सकता है। यदि अणुव्रती नियमानुसार बैठ चुका है और तांगे वाला फिर अपने स्वार्थ से तीजे या चौथे को बिठाता है तो वहाँ अणुव्रती दोषी नहीं है।

जो भार अणुव्रती ने ठेके पर दे दिया है, गाड़ीवान अणुव्रती के निषेध करते हुये अपने स्वार्थ के लिये उसे जैसे-तैसे ले जाता है उसमें भी अणुव्रती दोषी नहीं है। ऐसी स्थिति में अगर अन्य साधन नहीं है और किसी कारण से सवारी पर चढ़ना अनिवार्य है, वहाँ नियम लागू नहीं है।

ऊपर बताई गई क्रूरताओं के अतिरिक्त जीवन-व्यवहार में और भी विविध स्फुट क्रूरतायें रहती हैं। बहुत सारे

व्यक्ति गाय, भैंस आदि पशुओं को इतनी निर्दयता से पीटते हैं कि दर्शक के रोम-रोम खड़े हो जाते हैं। बहुत से मां बाप छोटे बालक बालिकाओं को ऐसा पीटते हैं मानो उन्होंने उनके घर में जन्म लेकर भारी अपराध कर लिया है। ऊँट, बैल आदि पशुओं पर लोग सुन्दरता के लिये त्रिशूल, चक्र आदि भी अत्यन्त कष्टदायक तरीकों से बनाते हैं। अणुव्रती को उक्त प्रकार की व तथा प्रकार की अन्य क्रूरताओं से बचना है।

सत्य-अणुव्रत

"सच्चमेव भगवं" सत्य ही भगवान है—यह आप्त-वाक्य है। इस छोटे से वाक्य रूप बीज में सत्य का विराट् वट अस्तित्व पा रहा है। सत्य को पा लेना ही जीवन-ध्येय होता है, क्योंकि "सत्य ही संसार में सारभूत है।"[1] सत्य जीवन का साध्य है, अहिंसा आदि उसके साधन हैं, इसलिये कहा गया है "अप्पणा सच्च मेसिज्जा" आत्मा से सत्य का अन्वेषण करो। सत्य की विशेषता यह है जहाँ वह जीवन का साध्य बनता है वहां वह जीवन-व्यवहार में साधन भी बन जाता है। यहाँ साध्य सत्य की दार्शनिक विवेचना में न उतर कर साधन सत्य को ही समझ लेना है। अणुव्रत-आन्दोलन जीवन-व्यवहार का दर्शन है। सत्य की व्यवहार्य स्थिति को समझ कर ही अणुव्रती साधना के मार्ग पर आगे बढ़ सकता है।

सत्य में निर्भयता और तेजस्व

सत्यवादी निर्भय होता है। असत्य एक प्रकार की चोरी है। असत्यभाषी चोर की तरह भयभीत रहता है, मेरा असत्य खुल न जाये। उसकी वाणी में कभी तेजस्व नहीं आता है। उसकी लड़खड़ाती जबान हर एक व्यक्ति के हृदय में अविश्वास पैदा करती है। सत्यभाषी की वाणी में ही नहीं; उसके चेहरे पर निर्भयता व तेजस्व टपकते रहते हैं। वे उसमें एक आकर्षण पैदा

1—सच्चं लोयम्मि सारभूयं।

करते हैं जो कि उसे सफलता की दिशा में आगे बढ़ाता है। उसकी आत्मा प्रसन्न तथा बलवान रहती है। मानसिक दैन्य उसे कभी छूता तक नहीं।

असत्य का अभ्यास

कुछ लोग देखे जाते हैं जो असत्य बोलने का भी अभ्यास करते हैं। साधारण व बिना किसी स्वार्थ के झूठ बोलते हैं, वह इसलिये कि बड़ी से बड़ी झूठ को आदि से अन्त तक निभाने में हम कुशल हो जायेंगे। गुप्तचर विभाग में रहने वाले एक व्यक्ति से कुछ वर्ष पूर्व वास्ता पड़ा। उसने बहुत सारी बातें अपने जीवन के विषय में बताई और हमारी सुनी भी। वह प्रतिदिन हमारे पास आने लगा। उसका बात करने का स्टाइल बड़ा रोचक व आकर्षक था। उसके चले जाने पर हमारे दिल में आता, इतनी बातें यह कहता है ये कदापि सत्य नहीं हो सकतीं पर साथ-साथ उसके असत्य बोलने का कोई तात्पर्य भी नहीं लगता था। धीरे-धीरे हमें तो यह पता लग गया कि वह पौने सोलह आने असत्य बोलता है, पर हम साधुजनों के पास वह क्यों आता है, क्यों इतनी निरर्थक बातें करता है, यह एक कौतूहल का विषय था। बहुत दिनों के सम्पर्क के पश्चात् हम लोगों ने उससे कहा—भैया ! तुम्हारी बातें तो सारी की सारी असत्य निकलती जा रही हैं, तुम्हारा इस असत्य वादन का तात्पर्य क्या ? उसने अत्यन्त स्वाभाविक रूप से कहा—मैं गुप्तचर (सी. आई. डी.) विभाग में काम करता हूँ। मेरी तो, निपुणता ही झूठ सीखने में है। तब हम लोगों ने समझा—यह सज्जन तो हम साधुजनों का समय लेकर झूठ बोलने का अभ्यास कर रहा है। कुछ भी हो, झूठ छिपा नहीं रहता।

एक बार इसका प्रयोग कर आदमी अपना साधारण-सा काम बना लेता है और खुश होता है—पर वास्तव में वह अपनी प्रतिष्ठा का बहुत बड़ा हिस्सा उस एक बार के प्रयोग में ही खो देता है। पुनः पुनः के प्रयोगों से तो वह झूठे आदमी का खिताब ही अपना समाज में पा जाता है।

बालकों में असत्य

असत्य का रोग बालकों एवं विद्यार्थियों में बहुत कुछ फैल चुका है। जैसे तैसे ही झूठ बोलकर अपने आपको पकड़ में आने से बचा लेना चतुरता समझा जाने लगा है। प्रश्न होता है, बालकों में असत्य आया कहाँ से? यह कोई पूर्व जन्म की विरासत वे साथ नहीं लाये हैं। इसी जन्म के चारों ओर के वातावरण से उन्हें यह उपहार मिलता है। पहला उपहार माता-पिता से मिलता है। घर पर कोई ऐसा व्यक्ति आया जिससे पिता मिलना नहीं चाहता, लड़के को बुलाकर सिखलायेगा—जाओ आगन्तुक से कह दो, पिता जी घर नहीं है। कभी कभी तो ऐसा भी होता है, आगन्तुक पूछ बैठता है—तुम्हें यह किसने कहा, पिता जी घर नहीं है? भोला बच्चा झट कह देता है—"पिता जी ने"। कुछ भी हो माता-पिता व अन्य घर वालों का जैसा आचरण बालक देखता है वैसा ही वह सीखता है। अपने बचाव के लिये भी बच्चा असत्य बोलना सीखता है। पाठ याद नहीं कर सका, वह साथियों के साथ कहीं सैर करने चला गया इसलिये स्कूल में देरी से पहुँचा। अध्यापकों के पूछे जाने पर वह झट कह देगा—पेट में दर्द हो गया था सिर में दर्द हो गया, इस लिये पाठ याद नहीं कर सका व समय पर स्कूल नहीं पहुँच सका। पेट-दर्द व सर-दर्द का बहाना एक ऐसा बहाना है

जिसकी असलियत एक्सरे से भी नहीं जानी जा सकती। इस प्रकार के झूठ से उसका एक बार बचाव हो जाता है और बालक के हृदय में असत्य का एक संस्कार जम जाता है। असत्य के संस्कारों का धंसना राजयक्ष्मा के कीटाणुओं के उद्गम जैसा है। असत्य के कीटाणु उसके जीवन के क्रमिक विकास के साथ बढ़ते ही जाते हैं और आगे चल कर उसके जीवन के निखरने से पहले ही उसको प्राणहीन-सा बना देते हैं। बालक यदि बुद्धिमान है तो धीरे धीरे असत्य को छोड़ भी देता है। जो नहीं छोड़ सकता उसका भविष्य अंधकार में चला जाता है। क्योंकि यह स्वाभाविक है यदि वह स्कूली जीवन में असत्य आचरण पर ही चलता है तो आगे चलकर किसी ऑफिस या दुकान में बैठने की उम्र में भी वह उसी मार्ग पर चलेगा। यह निश्चित है जहां वह जायेगा वहाँ अपना विश्वास खोयेगा और निराश लौटेगा। जीवन के किन्हीं क्षणों में असत्य पर चलने वाला व्यक्ति कुछ भी प्रगति कर सकेगा, यह असम्भव है।

व्यवहार कुशलता के नाम पर मानसिक असत्य

वहां के जीवन-व्यवहार में भी असत्य नाना रूपों में आ धंसा है। लोग कहते हैं मनुष्य को व्यवहार-कुशल होना जरूरी है। आदर्श पर चलने से काम नहीं चलता। उस व्यवहार-कुशलता का अर्थ होता है अपना सिद्धान्त व विचार कुछ नहीं, केवल तिकड़मबाजी से अपने चारों ओर के वातावरण को प्रसन्न बनाये रखना ही जीवन का ध्येय हो जाता है। ऐसी स्थिति में सत्य का गला घुटता है। असत्य भी व्यक्ति अपने ही साथ बोलता है क्योंकि सत्य वहां मन में होता है और असत्य वाणी में।

व्यवहार-कुशलता कोई बुरी वस्तु नहीं यदि उसकी यथार्थता को पकड़ा जाय। व्यवहार-कुशलता का अर्थ है— व्यक्ति अपने सत्य एवं अन्य आदर्शों को सुरक्षित रख सबके साथ भद्र एवं नम्र व्यवहार करे। अवसर आने पर वह बोले और चुप भी रहे पर वह चापलूसी करने के लिये कुछ भी न करे।

असत्य-आचरण का एक सभ्य नाम कूटनीति भी है। आज की राजनीति में यह बड़े गौरव से चलता है। राज-

कूटनीति के नाम पर मानसिक असत्य

नैतिक अपने आपको कूटनीतिक (Diplomatic) कहलाकर दर्पान्वित होते हैं। यहाँ यह देखना है इस कूटनीति का सत्य से कितना-सा सरोकार है। लगता है कूटनीति का जन्म युद्धों और महायुद्धों में हुआ है। महाभारत के रणक्षेत्र में कृष्ण की कूटनीति ने भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य, कर्ण, जयद्रथ, दुर्योधन को पराभव करा कर पाण्डवों को विजयी बना दिया। महाभारत से जब हम मौर्यकाल में आते हैं तो सम्राट् चन्द्रगुप्त के महामंत्री चाणक्य कूटनीति के रूप में प्रमुख मिलते हैं। उन्होंने तो व्यवस्थित शास्त्र भी बना कर विश्व के सामने रख दिया है। राजपूतों तथा यवनों के संघर्षकाल में धार्मिक भावनाओं से संस्कारित क्षत्रियों ने बहुधा कूटनीति को हेय ही माना। यवन इस बात में बहुत ही आगे रहे। अंग्रेजों की कूटनीति ने उनको भी परास्त कर दिया। आज तो सामान्य राजनीति भी कूटनीति कही जाने लगी है। इसमें कोई दो मत नहीं होगा कि कूटनीति में असत्य के ही नाना रूप निखरते हैं। आज के अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण में जितना ध्यान अहिंसा ने अपनी ओर खींचा है उतना सत्य

में नहीं। पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारों में स्वस्थता लाने के लिये जितनी अहिंसा आवश्यक है उतना ही आवश्यक सत्य है। आज अपेक्षा है विभिन्न क्षेत्रों के पारस्परिक व्यवहार में कूटनीति (Diplomacy) का स्थान सत्यता (Truthfullness) ले।

कूटनीति राजनैतिक क्षेत्र तक ही सीमित रहती, यह एक बात थी। उसका दुष्परिणाम जन-जन को आक्रान्त नहीं करता, क्योंकि वह कुछ अवसरों व कुछ लोगों तक ही सीमित होती। दुःख की बात तो यह है आज वह अपने नाना रूपों में जन-जन का विषय बन गई है। अनैतिकता, भ्रष्टाचार, चालाकी, विश्वासघात आज कहां नहीं मिलते? जो कूट-व्यवहार दो राष्ट्रों के बीच चलता था वह आज दो पड़ोसियों और दो सगे-सम्बन्धियों के बीच चलता है। आज भद्रता मूर्खता में परिणत हो गई है और धूर्तता चतुरता में। आज किसी भी व्यक्ति को पहचान लेना कि वास्तव में यह क्या है किसी दार्शनिक-गूढ़ता को समझ लेने से सहज नहीं है। मनुष्य की कायिक व वाचिक प्रवृत्तियां उसके हार्द स्वरूप का प्रतिनिधित्व नहीं करती हैं।

सफल नेतृत्व का मार्ग निष्कपट आचरण

मनुष्य की स्वाभाविक रुचि सत्य व ऋजुता में होती है। असत्य एवं कुटिलता को वह किसी स्वार्थ से ही अपनाता है। वह स्वार्थ है उद्देश्य की सफलता। एक कार्यकर्ता व नेता स्वभावतः चाहता है—मेरा दायित्व व नेतृत्व बढ़े, सब लोग मुझे विश्वास व प्रेम की दृष्टि से देखें। समष्टि के वातावरण में बहुत सारे लोग उसके सहयोगी एवं बहुत सारे विरोधी

होते हैं। वहाँ वह दूसरों के प्रभाव से अपना प्रभाव अधिक देखना चाहता है। इसी महत्वाकांक्षा का जब अतिरेक हो जाता है तब व्यक्ति असत्य एवं वंचना का आश्रय लेता है। अपने कार्य को अतिशय करके बताना, दूसरों के विशेष कार्य को भी न्यून या असद् बताना, दूसरों के श्रेय पर अपनी छाप लगाना आदि उसके लिये सहज हो जाता है, यह मार्ग श्रेयस्कर नहीं है। तुच्छ मतलबों से अपने आत्म-धर्म को गमाना है, घाटे का सौदा है। ऐहिक लाभ भी इस महासागर मार्ग से नहीं मिल सकते। वहाँ भी वह जो चाहता है उससे उल्टा होता है। प्रत्येक समाज में कुछ न कुछ ऐसे नेता मिलते हैं जो अपनी कूटचालों से सबको प्रभावित करना चाहते हैं। ऐसे लोग अपने कानों से अपने विषय में वाह-वाही सुनते हैं किन्तु उनके परोक्ष की स्थिति समाज में सदा दयनीय रह जाती है। वहाँ उनके प्रति सामूहिक प्रेम व श्रद्धा नहीं देखी जाती और न कोई सुदृढ़ विश्वास भी। जनता के अन्तःकरण में उनका आदर्श व्यक्तित्व नहीं बनता। समाज के हर कार्य में उनका हस्तक्षेप रहते हुये भी वे बड़े आदमी नहीं माने जाते। अन्तर में सभी लोग उनसे सशंक रहते हैं। उनके मुँह पर उनकी तारीफ करते हैं पर पीछे-पीछे—यह बड़ा चालाक है, धूर्त है, जान लेने योग्य है, आदि कहते रहते हैं। ऐसे अवसरों से विचारक जन समझ लेते हैं वंचना व असत्य के आधार पर नेतृत्व की कामना करने वाले क्या खोते व क्या पाते हैं।

दूसरे पक्ष में समाज में हम उन व्यक्तियों को देखते हैं जिनका हृदय कपट से खाली और प्रेम से पूरित रहता है। वे हर स्थिति को अपने साथियों में सरल एवं सुस्पष्ट रखते

हैं। उनकी वाणी और कर्म में कोई विरोध नहीं होता। वे कार्य स्वयं करते हैं पर श्रेय साथियों को देते हैं। ऐसे व्यक्तियों का प्रत्यक्ष और परोक्ष में समाज के व्यक्ति-व्यक्ति पर अमिट प्रभाव रहता है। समाज उन्हें श्रद्धा, सम्मान और भक्ति के फूल चढ़ाता है।

प्रश्न रहता है—चतुर लोग भी ऐसी कूटनीतियों के आचरण में फंस क्यों जाते हैं? उसका भी हेतु है। वह यह समझता है कि कूटनीति बुरी है पर मैं इसे खुलने न दूंगा। इससे मैं जनता में आदर्शवादी होने का यश भी पाता रहूँगा और इस अन्तरंग छद्म से मेरा काम भी सफल हो जायेगा, पर ऐसा होता नहीं। होता यह है, काम भी नहीं बनता और आदर्श का ढोंग भी नहीं ठहरता। आज की जनता में तो किसी भी वंचना का सफल होना नितान्त असम्भव है। वंचना भी एक बार सफल होती है, जहाँ कि अन्य सब लोग वैसी वंचनाओं से अपरिचित होते हैं पर आज तो ऐसी बातों में एक से एक आगे नम्बर लेने वाले देखे जाते हैं। व्यापारी ग्राहक को कैसे ठग लेगा, जब ग्राहक स्वयं उसे ही ठगने के लिये आता है।

वंचना प्रगट होकर रहती है, कोई भी कुशलता उसे रोक नहीं सकती। बहुधा तो व्यक्ति अपने वंचक होने का परिचय अपने आप दे देता है। एक के साथ वंचना करके अपनी कुशलता का वर्णन अपने मित्रों में करता है। वह समझता है मेरे मित्र मेरी चतुरता से बहुत प्रभावित हो जायेंगे पर होता यह है कि वे मित्र स्वयं उसके आदर्श की तह पा जाते हैं।

सत्य शास्त्र सम्मत है इसीलिये वह जीवन का सिद्धान्त है ऐसी बात नहीं। वह जितना शास्त्र सम्मत है उतना तर्क सम्मत भी। कुछ लोग कहा करते हैं—

सत्य की तर्क सिद्ध उपादेयता

सत्य व असत्य का भेद ही अनावश्यक है। बोलने का उद्देश्य जैसे फलित होता हो वैसे बोलना चाहिये। यदि यह नियम होता कि सत्य बोलने से ही फलित सिद्ध हो तो अवश्य हम सत्य को जीवन-सिद्धान्त मानते किन्तु ऐसा नहीं है। असत्य-वादन से भी मनुष्य बहुत सारी सफलतायें पाता है। तर्क रुचिकर लगता है पर उसके नीचे सुदृढ़ आधार नहीं है। सफलता मिलने से ही जीवन का कोई प्रयत्न उपादेय बने, यह मानने योग्य बात नहीं है। चोरी से भी धन मिलता है, व्यभिचार में भी वैषयिक आनन्द है पर ये जीवन के उपादेय तत्व कभी नहीं बनते। उपादेयता को परखने के लिये देखना होगा सत्य और असत्य में सहज क्या है, स्वभाव व विभाव क्या है? सहज सत्य है जिसे मनुष्य अनायास बोलता है। असत्यवादन में विशेष प्रयत्न अपेक्षित है। जीवन-सिद्धान्त वह होता है जो व्यवहार्य हो। सत्य व्यवहार्य है। मैं सदा सत्य ही बोलूँगा, ऐसा व्रत लेकर अनेक लोग चलते हैं, सब लोग चल सकते हैं। मैं असत्य ही बोलूँगा, ऐसा व्रत लेकर न कोई चलता है और न चल सकता है। कोई भी व्यक्ति समग्र झूठ कैसे बोलेगा, क्या वह खाते हुये भी कहेगा, नहीं खाता हूँ, बोलते हुये भी कहेगा मैं नहीं बोल रहा हूँ और वह जीवित होते भी कहेगा मैं मर गया हूँ ? अस्तु, असत्य जीवन में व्यवहार्य नहीं होता इसलिये वह जीवन का सिद्धान्त भी नहीं बन

सकता और उपादेय भी। सत्य स्वभाव है; असत्य विभाव, सत्य स्व है; असत्य पर है। "पर" भी क्या कभी "स्व" होगा?

"मैं सत्य बोलूंगा" सत्य इस विधेय-रूप में समग्र अभिधेय नहीं आता। सत्य भी कुछ मर्यादाओं में वाच्य है कुछ में अवाच्य। "मैं असत्य न बोलूँगा" यह विधेय अपने आप में शुद्ध है, इसमें कोई अपवाद व विकल्प जोड़ने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

सत्य का शुद्ध रूप नकारात्मक

अणुव्रत-आन्दोलन सार्वजनिक है। इसलिये इसमें नकारात्मक सत्य को विशेष स्थान दिया गया। विधानात्मक सत्य में नाना मत सम्भव हैं, उदाहरणार्थ—कटु-सत्य, मर्म-प्रकाश। ये सब कहाँ तक उपादेय हैं इसमें व्यक्ति व्यक्ति का भिन्न मत सम्भव है। इस विषय में सुप्रसिद्ध उक्ति तो यह है ही: "सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् मा ब्रूयात् सत्यम-प्रियम्" अर्थात् सत्य बोलो, प्रिय बोलो, परन्तु अप्रिय सत्य मत बोलो। पर यह जीवन के समस्त व्यवहार में चलता नहीं। एक सत्य-निष्ठ वक्ता अनैतिकता और भ्रष्टाचार का व धर्म के नाम पर चलने वाले अधर्म का व न्याय के नाम पर चलने वाले अन्याय का खंडन नहीं करेगा? क्या एक आदर्श अधिनेता दूसरे तथाकथित अधिनेता व अधिकारी के द्वारा होनेवाले गबन को चुपचाप देखता रहेगा? अणुव्रत-आन्दोलन में सत्य के निषेधात्मक रूप को स्थिरता देने का तात्पर्य यह नहीं कि उक्त प्रकार के विधानात्मक सत्यों को वाच्य की सम्भ्रान्त स्थिति में यों ही छोड़ देता है। किन्तु उक्त विषयों पर भी वह एक न्यायपूर्ण दृष्टिकोण

प्रस्तुत करता है। अप्रिय सत्य और मर्म-प्रकाश के विषय में अणुव्रती का मार्ग यह है कि वह कटु-सत्य भी बोलते समय या किसी के गबन का रहस्योद्घाटन करते समय अपने आपको टटोले कि मेरा दृष्टिकोण सामाजिक हित की रक्षा का है या प्रतिपक्ष को गिराने का। दूसरे को हतप्रभ करने की बुद्धि से बोला गया सत्य ही असत्य से कम नहीं होता।

राजनीति और सत्य

व्यवसायी लोगों ने जैसे अशक्यता बताकर असत्य को अपने व्यवसाय में प्रश्रय दे रखा है, लगता है—राजनैतिक क्षेत्र में काम करने वाले व्यक्तियों ने भी यही रास्ता पकड़ा है। एक दल के व्यक्ति जब राजनैतिक मंच पर आकर दूसरे दल पर बोलना आरम्भ करते हैं तब इतने असत्य तक कोई आपत्ति मानते ही नहीं जितना कि जनता में चल सकता है। अपने पक्ष की असत्य श्लाघा दूसरे पक्ष की असत्य निन्दा यहां अत्यन्त ही सहज होती देखी जाती है। वही वक्ता कुशल माना जाता है, जो अपने शब्दों की चद्दर में लपेट कर अधिक से अधिक असत्य जनता के हृदय तक पहुँचा देता है। एक दल के लोग दूसरे दल पर ही असत्य का प्रयोग करते हों, ऐसी बात नहीं। बहुधा एक बड़े दल में नाना अवान्तर दल देखे जाते हैं, वहां की पारस्परिक भांजघड़ में भी असत्य खुले हाथों बंटता है। स्थितियां यहां तक पहुँच जाती हैं कि सत्तारूढ़ पक्ष को तोड़ने के लिये व अपने पक्ष को सत्तारूढ़ बनाने के लिये तटस्थ व दूसरे पक्ष के व्यक्तियों को गुमराह किया जाता है। अमुक अमुक प्रमुख व्यक्ति व अमुक अमुक सदस्य हमारे पक्ष में आ गये हैं। हमारा पक्ष सत्तारूढ़ होने वाला है। यदि आप हमारे साथी नहीं होंगे तो बनने वाली स्थिति में कोरे के कोरे रह

जायेंगे। यही बात उन पाँच सदस्यों को दूसरे पाँच सदस्यों का नाम लेकर कहेंगे और उन पाँचों को इन पाँचों का नाम लेकर। पहले पाँच यह सोच कर कि वे पाँच भी उनके साथ हैं तब तो उनका बहुमत है व हमें भी इनके साथ ही जाना चाहिये। यही बात दूसरे पाँच सोच लेते हैं। तात्पर्य यह होता है कि असत्य बहुमत का प्रचार कर लोग सच्चा बहुमत बनाने का प्रयत्न करते हैं। कभी कभी ऐसे अवैध प्रयत्न सफल भी होते देखे जाते हैं पर यह बिना नींव का प्रासाद आगे चलकर एकाएक ढह जाता है। राजनीति में और भी नाना असत्य हैं।

असत्य के स्थूल आचरण से बहुत सारे आदर्श राजनैतिक बच भी जाते हैं पर राजनीति में रहकर असत्य से पूर्णतः बच जाना, वे स्वयं ही कठिन बताते हैं। बहुत सारे आदर्श पर चलने वाले राजनैतिक हैं, जो अणुव्रत-आन्दोलन में सक्रिय रस लेते हैं। उनका जीवन भी ऐसा मंजा हुआ है कि अणुव्रतों का पालन उनके लिये कुछ भी कठिन नहीं लगता। अणुव्रती बनने की बात चलने पर उनमें बहुतों ने कहा—अणुव्रती बनने में हमारे कोई आपत्ति नहीं है, केवल सत्य-अणुव्रत का हम यथार्थ पालन नहीं कर सकते। क्योंकि हम राजनैतिक क्षेत्र के प्राणी हैं। और उन्होंने बताया कि आज के वातावरण में, राजनैतिक भांजघड़ों में कोई भी व्यक्ति पूर्ण सत्य नहीं; पर्याप्त सत्य का भी पालन कर सके, यह कठिन है।

उक्त विवरण से राजनैतिक क्षेत्र में सत्य किस मुसीबत में फंसा है, यह स्पष्ट हो जाता है। अणुव्रती अनुचित बात को क्षम्य मानकर उसका अनुकरण न करे। एक साधक यह

कभी नहीं देखता इस रास्ते में मेरे कितने साथी हैं, वह केवल यही देखेगा मेरा रास्ता सही है न? साधक व्यक्तियों को दृढ़ संकल्प कर लेना चाहिये कि हम निर्वाचन में सफल हों या न हों या किसी दल में रहकर व जुड़कर लाभ उठा सकें या न उठा सकें, जीवन के इन तुच्छ प्रलोभनों के उपासक होकर नहीं चलेंगे।

शब्द की रक्षा और सत्य की हत्या

सत्य का सम्बन्ध शब्दों से है या भावना से, यह एक गम्भीर विषय है। इसमें बड़े-बड़े साधक उलझ जाते हैं। अपनी सत्य-प्रियता को बचाने के लिये शब्दों का आश्रय लेते हैं। मेरे शब्द ये थे—यह उनका नारा-सा बन जाता है। किन्तु तत्व की बात यह है कि सत्य का सम्बन्ध शब्दों से अधिक भावना से है। कहा कुछ और किया कुछ, बचने के लिये अपने ही शब्दों को तोड़-मरोड़ कर उसका दूसरा अर्थ लगाया जाता है। कभी-कभी शब्द की मारामारी में सामने वाले व्यक्ति को फांसा भी जा सकता है पर अपनी आत्मा से व सामने वाले व्यक्ति की आत्मा से वह असत्य छिप नहीं सकता। कभी-कभी लोग जान बूझ कर द्वयर्थक भाषा बोल देते हैं, फिर जरूरत पड़ने पर अपना इच्छित अर्थ जनता को समझाते हैं, यह सब असत्य है, वंचना है।

नियमों के पालन में भी शब्द प्रधान चिन्तन करते रहते हैं, ऐसे लोग व्रत की आत्मा का हनन करते हैं और कलेवर को उठाये फिरते हैं। व्रत भावना प्रधान होता है। भावना से ही उसका पालन होना चाहिये। उसके अभाव में बहुधा

क्योंकि नियम-भंग और असत्य-आचरण, ये दो पाप कमा लेते हैं।

व्यापार और सत्य

व्यावसायिक जगत् में यह एक सर्वमान्य-सी भाषा बन गई है व्यापार में सत्य पर डटे रहने से काम नहीं चलता। सत्य का आग्रह रखने वाले अपने व्यवसाय को नहीं चला सकते। यही कारण है, व्यावसायिक जगत् में असत्य इतना सहज हो गया है कि लोगों के अनुभव में भी नहीं आता—हमारे जीवन में असत्य नाम की कोई बुराई है। इस कुसंस्कार के कारण भारतवासियों ने विरासत में मिली सच्चरित्रता के गौरव का बहुत बड़ा हिस्सा खो दिया है। सभी कहते हैं—क्या करें ऐसी ही स्थिति है, पर सोचना यह है कि स्थिति मनुष्य का सर्जन करती है या मनुष्य स्थिति का स्रष्टा है। प्रथम तो यह विश्वास ही मिथ्या है कि असत्य का सहारा लिये बिना व्यावसायिक उन्नति नहीं हो सकती। व्यावसायिक सफलता की दृष्टि से भी सत्य ही श्रेयस्कर है। असत्य पर चलने वाला व्यवसाय आरम्भ में कुछ अधिक चलता है पर धीरे-धीरे समाप्त हो जाता है। सत्य पर चलने वाला व्यवसाय आरम्भ में सूक्ष्म और क्रमशः विस्तृत होता जाता है। यह कहावत असत्य नहीं है (Honesty pays in the long run) अर्थात् ईमानदारी लम्बी दौड़ में फल देती है।

इस विषय में विदेशी लोग भारतवर्ष के लिये उदाहरण बन सकते हैं। उनके व्यवसाय में भारतवासियों की अपेक्षा अब तक कहीं अधिक सत्य व प्रामाणिकता देखी जाती है और वे एक व्यावसायिक जगत् की उन्नति के शिखर पर

भी है। सत्य में निष्ठा बनाकर चलने वाले भारतवासी उनमें बहुत पिछड़े हुये हैं, इसलिये इस कथन की कोई यथार्थता नहीं है कि असत्य से व्यापार अधिक फलता फूलता है। बहुत सारे अणुव्रतियों के संस्मरण भी सामने आये हैं, जिनमें वे बताते हैं—अणुव्रती होने के बाद हमारे व्यवसाय में चार चांद लग गये हैं। सारे बाजार में विश्वास हो गया है कि यहाँ असत्य-व्यवहार नहीं होता, इसलिये ग्राहक सबसे पहले हमारी ही दुकान पर पहुँचने लगे। अतः यह निर्मूल धारणा है कि सत्य का आग्रह व्यापार में बाधक है।

"सत्यमेव जयते" या "सच्चमेव भयवं"

सत्य से सफलता मिलती है यह एक गौण पक्ष है। साधक सत्य को सफलता का धर्म मान कर नहीं किन्तु आत्मा का धर्म मानकर अपनाता है। "सत्यमेव जयते" अर्थात् सत्य की ही विजय होती है, केवल इसलिये साधक सत्य की उपासना न करे क्योंकि यह निष्ठा किसी भी समय ढह सकती है। ऐसे प्रसंग हर एक मनुष्य के जीवन में आते रहते हैं, देखो सत्य का आग्रह रखने से मुझे इस प्रकार अलाभ उठाना पड़ा या इस प्रकार हार खानी पड़ी। विजय में निष्ठा रखकर सत्य की उपासना करने वाला व्यक्ति ऐसी स्थिति में एकाएक सत्य छोड़ देगा। वह इसकी प्रतीक्षा नहीं करेगा कि सत्य एक लम्बी अवधि के बाद ही फल दिया करता है। इसके बदले साधक की निष्ठा यदि यहां केन्द्रित होती है "सच्चमेव भयवं" अर्थात् सत्य ही भगवान है या "सच्च लोगम्मि सारभूयं" सत्य ही लोक में सारभूत है, तो वह जीवन के तमाम उतार चढ़ावों में भी कभी स्खलित नहीं होती।

क्रय-विक्रय में असत्य का प्रसंग

क्रय-विक्रय में असत्य वादन

अधिकांशतया माप, तोल, संख्या, प्रकार से जुड़ा रहता है।

माप—गज आदि के विषय में असत्य बोलना।

तोल—तोला, सेर, मन आदि के विषय में।

संख्या—गिनती आदि को लेकर।

प्रकार—क्वालिटी आदि को लेकर जैसे सूट में बोटाम को मिडिल या टोप बताना आदि।

वस्तु—सापेक्ष भी नाना प्रचलित असत्य हैं जो अणुव्रती के लिये वर्जनीय हैं—

जमीन मकान के सम्बन्ध में—

क—किसी दूसरे व्यक्ति की जमीन व मकान को अपना बताकर उसका पट्टा व खत अपने नाम से बना लेना।

ख—दूसरे की अच्छी जमीन व मकान को अशुभ व अन्य किसी प्रकार से दोष युक्त बताना।

ग—मकान, जमीन दूसरे का हो या अपनी जमीन दूसरे के रहने में काम आती हो या उस जमीन के और भी हिस्सेदार हों ऐसी जमीन अपनी कह कर बेचना।

घ—कुआं, मन्दिर, धर्मशाला आदि बनाने का व जीर्णोद्धार कराने का झूठा बहाना करके लोगों से चन्दा लेना।

ङ—अपनी जमीन की कीमत बढ़ाने के लिये झूठमूठ कहना कि अमुक व्यक्ति मेरी जमीन के इतने रुपये कह चुका है।

च—अपने मकान आदि की फॉल्स रजिस्ट्री करवा कर उसे दूसरे का बताना आदि।

पशु पक्षी के सम्बन्ध में—

क—गाय, भैंस, घोड़ा, ऊँट आदि पशुओं के बड़े दोषों के सम्बन्ध में असत्य बोल कर बेच देना। बड़े दोषों का तात्पर्य है जिन दोषों के कारण खरीददार को सोचना पड़े कि मेरे साथ धोखा हुआ।

ख—दूसरे के पशु को अपना कह कर बेच देना।

ग—गाय, भैंस, घोड़ा आदि की आयु, दूध, प्रसव आदि को अन्यथा बता कर बेच देना आदि।

इस प्रकार माप—तोल, संख्या, प्रकार आदि को लेकर व तत्सदृश अनेकों असत्य हैं जो शब्दों में बांधे नहीं जा सकते। तथाप्रकार के किसी भी असत्य को अणुव्रती भावना से पाप रूप छोड़ता रहे।

न्याय-व्यवस्था और सत्य

लोग कहते हैं व्यवसाय में तो फिर भी व्यक्ति असत्य से बहुत कुछ बच सकता है पर न्यायालयों में जाकर तो असत्य से बचना नितान्त असम्भव है। लोगों का कथन एक दम निराधार है, ऐसा नहीं लगता। आज की न्याय-व्यवस्था अनुभूति प्रधान नहीं, तर्क प्रधान है। न्यायाधीश की अनुभूति कुछ भी बोलती हो उसे तर्क समर्थित पक्ष को सत्य मानना होगा। न्यायालय में सत्य की गवेषणा गौण और वकीलों का बुद्धि-व्यायाम प्रबल देखा जाता है। अभियुक्त कितना ही सत्य हो, उसे सत्य को प्रमाणित करने के लिये गवाह चाहिये। यदि घटनास्थल पर कोई था ही नहीं तो गवाह कौन होगा? पर न्याय-व्यवस्था विवश करती है।

वह झूँठे गवाह करके लाता है। गवाह यदि असत्य गवाही देने में चतुर है तो अभियुक्त सत्य फैसला पा लेता है, नहीं तो उसे असत्य निर्णय ही भोगना पड़ता है।

"नोली लाल भी और धोली भी" वकीलों का बुद्धि-व्यायाम असत्य की सुरक्षा में सफल हो जाता है। लोग आश्चर्य में पड़ जाते हैं। एक बार की घटना है। एक आदमी ने एक दूसरे आदमी पर ३०००) का दावा किया। दूसरे व्यक्ति ने रुपये वापिस नहीं दिये पर वकील की सलाह से उसने यही बयान दिये मैंने अमुक महीने व अमुक तिथि के दिन इसके ३०००) रुपये वापिस कर दिये। अगली तारीख पर झूठे गवाह उपस्थित किये गये। वकील ने कैसे बोलना इसकी सारी तरकीब बतादी थी, और कह दिया नोली से रुपये निकाल कर उसे वापिस देते हुए हमने आँखों से देखा, यह सभी गवाहों को एक ही प्रकार से कहना है। पर न्यायाधीश ने पहले गवाह से ही एक अचूक प्रश्न कर लिया। उसने गवाह से पूछा बोलो भैया! उस नौली का रंग कैसा था? गवाह को इस विषय में कुछ बताया नहीं गया था। उसने कहा—लाल। दूसरे गवाह को न्यायाधीश ने अन्य प्रश्नों के बीच में यही प्रश्न कर लिया, नोली कैसे रंग की थी? वह बोल पड़ा धोली थी वकील ने देखा हमारे गवाह तो नक्ली साबित हो गये। उसने अपने तीसरे गवाह को नये सिरे से पढ़ा कर उपस्थित किया। उससे भी न्यायाधीश ने पूछा—नोली कैसी थी? वह बोला, महोदय! एक ओर से लाल थी और एक ओर से धोली। तात्पर्य यह हुआ कि तीसरे झूठे गवाह ने पिछले दो झूठे गवाहों को भी सचा कर दिया। न्यायाधीश की आत्मा कुछ भी कहे, वह इन गवाहों को झूँठा करार नहीं दे सकता।

यह है आज की न्याय-व्यवस्था में सत्य की दुर्दशा। मामला जीतने के लिए सत्यवादी होना इतना महत्व नहीं रखता जितना असत्य बोलने में कलाकार होना।

असत्य निर्णय

निर्णय देने का सम्बन्ध मुख्यतया न्यायाधीश व पंचों से है। एक अणुव्रती न्यायाधीश व पंच किसी के प्रति अन्याय पूर्ण फैसला नहीं कर सकता। उस पर रिश्वत आदि का स्वार्थ, अपने निजी व्यक्ति का पक्षपात या किसी बड़े आदमी की सिफारिश आदि प्रभाव नहीं पड़ने चाहिएँ।

वास्तव में वर्तमान न्याय-व्यवस्था की कठिनाइयों से लोग पूर्णतः ऊब गये हैं। भले आदमी जहाँ तक हो सके न्यायालय का मुँह भी नहीं देखना चाहते। समाज में यदि अणुव्रतियों का प्रभाव बढ़ा तो वे एक बहुत बड़े कार्य की पूर्ति कर सकेंगे। अब तक भी बहुत सारे अणुव्रती बहुत से प्रसंगों पर पंच माने गये हैं और उनके तटस्थ निर्णय से जनता में सन्तोष भी हुआ। जनता से कभी-कभी सुझाव भी जाते हैं कि विचारक अणुव्रतियों का एक आरबिट्रेशन बोर्ड (पंचायत) स्थापित होना चाहिए। जो सर्व-साधारण के पारस्परिक झगड़ों का निपटारा करता रहे इसमें सन्देह नहीं, यदि ऐसा हुआ और अणुव्रती अपनी प्रामाणिकता का ध्यान रखते रहें तो लोग न्यायालय की व्याधि से बहुत कुछ बच सकते हैं।

असत्य साक्षी व असत्य मामला

जैसे कि बताया गया, न्यायालयों की जटिल व्यवस्था के कारण झूठी गवाही का भी एक स्वतंत्र पेशा बनता जा रहा है। यह समाज और न्याय-व्यवस्था के लिये कलंक की बात है। अणुव्रती के सामने भी यह एक

समस्या है। सत्य उसका आदर्श है तथापि प्रस्तुत स्थिति में उसकी साधना कहीं-कहीं जटिल हो जाती है। यह तो निर्विवाद है कि अणुव्रती किसी झूठे पक्ष को सिद्ध करने के लिये गवाह न बनाये। समस्या वहाँ उत्पन्न होती है कि अणुव्रती स्वयं व उसका पक्ष सत्य है किन्तु उस सत्य को प्रमाणित करने में कहीं-कहीं यत्किंचित् असत्य की अनिवार्य अपेक्षा-सी हो जाती है ऐसी स्थिति में वह क्या करे ? आदर्श तो यह है कि वह अपनी बड़ी-से-बड़ी क्षति के लिए भी असत्य का तनिक भी आश्रय न ले। फिर भी ऐसा शक्य नहीं होता तो भी असत्य से बचने के लिये यथा सम्भव प्रयत्नशील रहना ही चाहिए।

कुछ लोगों की भावना बन गई है कि अणुव्रती को अनर्थकारी साक्षी नहीं देनी चाहिए। अनर्थकारी का तात्पर्य वे समझते हैं—जिससे किसी को मृत्यु-दण्ड होता हो, पर ऐसा सोचना भूल है। जहाँ विपक्षी मूलतः सत्य है उसके विपक्ष में जानबूझ कर कुछ भी साक्षी देना अनर्थकारी साक्षी के अन्तर्गत आ जाता है।

कुछ भाई इस विषय में एक अनयड़ तर्क उपस्थित किया करते हैं। वे कहते हैं—अणुव्रती का नियम है—असत्य साक्षी न देना, पर जब ऐसी स्थिति हो कि अणुव्रती की असत्य साक्षी से किसी का मृत्यु-दण्ड टलता हो तो उस समय क्या करे ? ऐसे प्रश्न और उनके समाधानों का जीवन-व्यवहार से कोई निकटतम सम्बन्ध नहीं रहता। सहस्रों व्यक्तियों से यदि एक साथ पूछा जाय—किसी के जीवन में ऐसा प्रसंग आया है, तो सम्भवतः सबका यही उत्तर होगा, कभी नहीं आया। बहुधा ऐसे प्रश्न सत्य को शिथिल करने के लिये ही गढ़े जाते हैं। जरा सोचने से तो स्पष्ट यही लगेगा कि ऐसा निश्चय हो ही कैसे

सकता है कि अमुक की असत्य गवाही से अमुक को मृत्यु सजा टल ही जायेगी। साथ-साथ असत्य बोलने में वक्ता का आत्म-हनन तो निश्चित है ही।

असत्य मामला खड़ा करना अणुव्रती क्या, किसी भी नागरिक के लिये अवांछनीय है। फिर भी आजकल यह मनोवृत्ति बहुत बार देखी जाती है। अमुक व्यक्ति मेरे पर मामला करेगा इसलिये उस पर एक झूठा मामला पहले ही मैं क्यों न लगा दूँ ताकि फिर दोनों का निपटारा सुगमता से हो सकेगा। कभी-कभी किसी व्यक्ति को तंग करने के लिए भी उस पर झूठा मामला लगा दिया जाता है। अणुव्रती ऐसे मामलों में न तो रस ले और न किसी को ऐसा मामला करने की सम्मति भी दे।

असत्य मामले की तरह अर्द्ध सत्य मामले का भी एक प्रकार होता है। जो व्यक्ति किसी में २५०००) रुपये मांगता है। वह ४००००) रुपये का दावा उस पर करना चाहता है ताकि आगे मामले की हार जीत में वह उससे लाभ उठा सके। अणुव्रती के लिये यह मार्ग भी अवांछनीय है।

मर्म-प्रकाश

किसी व्यक्ति के मर्म या रहस्य को प्रगट करना एक महान् हिंसा है। समय-समय पर इससे बड़े अनर्थ भी हो जाया करते हैं। कभी-कभी मर्म-प्रकाश न करने में भी सामूहिक अहित उपस्थित हो जाता है। उदाहरणार्थ एक अधिकारी या मंत्री (Minister) रिश्वत लेता है या गबन करता है। ऐसी स्थिति में चुप रहना, एक सामाजिक अन्याय माना गया है। इसलिये ऐसी विवक्षा की गई है कि मर्म-प्रकाश का हेतु व्यक्तिगत स्वार्थ या द्वेष नहीं होना चाहिये।

साधारणतया तो बहुत सारे व्यक्ति केवल मनोविनोद-सर्जन के लिये दूसरों के चरित्र की अवांछनीय घटनायें प्रकाश में लाते रहते हैं। यह आध्यात्मिक और सामाजिक दोनों पक्षों में बुरा है। आध्यात्मिक पक्ष में तो ऐसी प्रवृत्तियों में प्रमाद बढ़ता है और सामाजिक पक्ष में गन्दी व अश्लील घटनाओं का जन-जन के सामने आना अश्रेयस्कर है ही। आधुनिक मनोविज्ञान बताता है, अश्लील व अभद्र घटनाओं को किसी अच्छे उद्देश्य से भी समाज में प्रसारित नहीं करना चाहिये। क्योंकि वे बहुतों के मानस पर बुरी प्रेरणायें अंकित कर जाती हैं।

धरोहर और बंधक वस्तु

किसी अन्य की वस्तु जो उसके आग्रह पर सुरक्षा के लिये अपने पास रख ली जाती है, वह धरोहर कहलाती है। जो जमीन, मकान, गहना आदि आवश्यकता वश किसी से रुपये लेकर अस्थायी रूप से उसके हस्तगत कर दिये जाते हैं, इस शर्त पर कि जब रुपये वापिस करूँगा अपनी वस्तु वापिस लूंगा, बंधक वस्तु कहलाती है। सौंपी या धरी वस्तु को लेकर समाज में आये दिन झगड़े होते रहते हैं। अणुव्रती का व्यवहार विश्वस्त होना चाहिये। वह किसी धरोहर या बन्धक वस्तु से इन्कार नहीं हो सकता। कानून-दृष्टि से भी कहीं-कहीं बचाव होता है पर ऐसे सम्बन्धों में लोक-व्यवहार का भी ध्यान रखना अणुव्रती के लिये आवश्यक है। मानो किसी व्यक्ति ने अणुव्रती के पास गहना रखा। गहने की कीमत उसके दिये रुपयों से दुगुनी चौगुनी है। लिखित अवधि तक वह व्यक्ति अणुव्रती को रुपये नहीं दे सका। अवधि समाप्त होने से वह अपनी वस्तु मांगने का

कोई अधिकार नहीं रखता। अवधि के कुछ पश्चात् ही वह अपनी वस्तु को रुपये देकर लेना चाहता है। ऐसी स्थिति में कानून की बात आगे रखकर उसकी दुगुनी चौगुनी धन-राशि को रोक लेना शोषण की कोटि में आ जाता है। लोक-व्यवहार में अपवाद का हेतु भी है।

कभी-कभी ऐसा होता है, बंधक की अवधि समाप्त हो जाती है, रखने वाला उसे बार-बार सूचित भी कर देता है कि अब मैं तुम्हारी बंधक को बेच रहा हूँ, और उसे बेच देनी पड़ती है। ऐसी स्थिति में भी मय ब्याज के अपने मूल से अधिक रुपये अपने मानकर रख लेना भी अनैतिकता की कोटि में है।

धरोहर रखने का भी समाज में अधिक प्रचलन है। क्योंकि इसके बिना काम भी नहीं चलता। जहाँ व्यक्ति अपने ग्राम से दूसरे ग्राम जाता है उसे अपनी बहुमूल्य वस्तुयें किसी मित्र व सगे सम्बन्धी को संभलानी ही पड़ती है। प्रेम व विश्वास के वातावरण में ऐसी चीजों के लिये कोई लिखा पढ़ी नहीं हुआ करती। ऐसी स्थिति में यदि धरोहर रखने वाले का जी ललचा जाता है तो वह वस्तु देने से इन्कार हो जाता है। कानून यहाँ कोई काम नहीं करता। फिर भी यह एक घोर विश्वासघात होता है। अणुव्रती का आदर्श तो यहाँ तक अनिवार्य है कि धरोहर रखने वाला व्यक्ति स्वयं मर गया, उसके वारिसों को इसका कुछ भी पता नहीं तो भी अणुव्रती उस धरोहर को अपनी नहीं कर सकता।

हस्ताक्षर मनुष्य की सहमति का अनन्य प्रमाण है। प्रमाण भी वह इसलिये माना गया है

जाली हस्ताक्षर कि एक व्यक्ति की लिपि दूसरे व्यक्ति से पूर्णतः कभी नहीं मिलती, जैसे कि एक मनुष्य का चेहरा दूसरे मनुष्य से। न्यायालय में, बैंक में, वही-खाते में हस्ताक्षर सर्वत्र प्रमाण माने जाते हैं, पर अनैतिक लोग समाज के किसी मान-दण्ड को स्वस्थ नहीं रहने देते। हर सदाचार की शक्ल में दुराचार खड़ा कर देते हैं। भारतीय संस्कृति में साधु, सदाचार का उत्कृष्ट रूप एवं पूजनीय होता है, दुष्ट लोगों ने उस वेश को भी ठगवाजी का साधन बना लिया है। हस्ताक्षरों की भी यही बात है। जाली हस्ताक्षरों के नाना रूप बन गये हैं। उन जाली हस्ताक्षरों से न्यायालय, बैंक आदि को खूब धोखा दिया जाता है। लोग पकड़े भी जाते हैं, दण्डित भी होते हैं, फिर भी आदत से लाचार। अणुव्रती इस प्रकार के कार्यों से कोसों दूर रहेगा।

जाली हस्ताक्षर दो तरह से चलते हैं। एक तो जैसे कि ऊपर बताया गया—तत्सम लिपि बना लेना, दूसरा किसी के नाम से अपना दस्तखत कर देना। दूसरे प्रकार में दो बुद्धियाँ होती हैं—एक तो दुर्बुद्धिपूर्वक धोखा देने की और दूसरी सामान्य व्यवहार-साधन की। उदाहरणार्थ-किसी व्यक्ति की अनुपस्थिति में उसके पुत्र, भाई, मुनीम आदि बहुत से प्रसंगों पर हस्ताक्षर करते हैं। वहाँ यह समझ रहती है, हस्ताक्षर कराने वाले व जिसके लिये किये जाते हैं, उन दोनों पक्षों का उसमें विरोध व अलाभ नहीं है, अतः उक्त उपक्रम जालसाजी में नहीं आता।

झूठा खत या दस्तावेज

तथाप्रकार की अनैतिकताओं में एक झूठा खत या दस्तावेज लिखवाने की अनैतिकता भी प्रमुख है। आज का मनुष्य इतना स्वार्थी हो गया है जहां एक सामाजिकता के नाते किसी विपत्ति में पड़े मनुष्य की सहायता करना उसका एक व्यवहार होता है, वहां वह ऐसे अवसरों में भी शोषित के शोषण की व अपने स्वार्थ-पोषण की बात सोचता है। एक व्यक्ति जिसे ५००) रुपयों की अनिवार्य आवश्यकता हुई है उसकी प्रतिष्ठा व जीवन-व्यवहार खतरे में हैं। वह किसी परिचित से ऋण के रूप में उतना द्रव्य लेने जाता है। समाज के कलंक स्वरूप ऐसे व्यक्ति बहुत मिल जाते हैं जो उसे पांच सौ देकर हजार का खत लिखवाते हैं। बेचारा मुसीबत में फसा होता है सब कुछ लिख देता है। निश्चित अवधि तक वह हजार रुपये नहीं चुका सकता तो येन-केन-प्रकारेण उसके घर, दुकान आदि नीलाम करके भी रुपये अदा किये जाते हैं। समता व अशोषण के इस युग में यह घोर अनैतिकता है। समाज में ऐसी घटनायें कदाचित् ही होती हों, ऐसी बात भी नहीं है। बहुत सारे लोगों का तो व्यापार ही यही बन गया है। इससे गरीब व ग्रामीण लोगों का अनहद शोषण होता है।

ऐसी चिट्ठियां लिखने वाले भी दो प्रकार के होते हैं। एक वास्तविक गरीबी वाले व दूसरे दुर्व्यसनी। माता-पिता धनवान हैं, लड़के दुर्व्यसनी हैं, उन्हें दुर्व्यसन में उड़ाने के लिये धन चाहिये। आवश्यकता प्रखर होने पर वे स्वयं हजार लिखकर पाँच सौ लेने को तैयार होते हैं। इतना ही नहीं कभी-कभी वे सुपुत्र इस शर्त पर ही रुपये लेते हैं—"माँ

मरते ही दुगुना व बाप मरते ही चौगुना दूंगा" अणुव्रती किसी भी स्थिति में झूठे खत न लिखे व न लिखवाये।

अत्यधिक व्याज लेना भी अनैतिकता है। यद्यपि सामान्य अणुव्रती के लिये इस विषय में कोई नियम नहीं है तो भी आदर्श के नाते लोक-मर्यादा का ध्यान रखना चाहिये।

कुछ स्थलों में रुपये देते समय होने वाले व्याज के रुपये पहले ही जोड़ कर खत लिखाया जाता है। वह बाजार में साहूकारी प्रथा मानी जाती है। वह झूठे खत की कोटि में नहीं माना जाता।

जाली सिक्का और नोट

सिक्का, समाज-व्यवहार का एक अभिन्न पहलू है। कैरंसी से निकलता हुआ ही वह प्रामाणिक होता है। कैरंसी का भरसक प्रयत्न रहता है कि उसके सम दूसरा सिक्का बन ही न सके, पर आखिर मनुष्य की कृति पर मनुष्य विजय पा सकता है। जाली सिक्कों व नोटों का प्रचलन बढ़ता ही जा रहा है। आये दिन ऐसे-ऐसे व्यक्ति व गिरोह पकड़े जाते हैं। ताजी घटना है—पटना में अभी-अभी पाँच व्यक्तियों का एक गिरोह उक्त अपराध में पकड़ा गया। एक अभियुक्त के बयान[1] से पता चला है वे जाली नोट चलाने वाले एक अन्तर्राष्ट्रीय गिरोह से सम्बन्धित हैं। उक्त गिरोह अब तक इक्कीस करोड़ के जाली नोट चला चुका है। अस्तु, अणुव्रती ऐसे काम करना तो दूर, ऐसे व्यक्ति व गिरोह को एतत् सम्बन्धी योग-दान भी नहीं कर सकता।

१—नवभारत टाइम्स २ नम्बर १९५५, बम्बई।

मिथ्या प्रमाण-पत्र

झूठे प्रमाण-पत्र (Certificates) का सम्बन्ध मुख्यतः मास्टर, डाक्टर आदि व्यक्तियों से होता है। पर वैसे उन सभी व्यक्तियों से उसका सम्बन्ध है जिनका प्रमाण-पत्र कहीं भी चलता हो। असत्य प्रमाण-पत्र देने के मुख्य कारण हैं—रिश्वत, दबाव, सिफारिश, निजीपन आदि। अणुव्रती किसी भी उक्त प्रकार के कारण से किसी को भी असत्य प्रमाण-पत्र न दे।

मिथ्या विज्ञापन

लोग कहते हैं आज की दुनियाँ विज्ञापन की है। जो जितना अधिक विज्ञापन कर सकता है वह उतना ही अधिक अपने व्यवसाय में सफल हो सकता है। इसी सफलता के नाम पर आज विज्ञापन असत्य-ज्ञापन हो रहा है। अपनी वस्तु का लोगों को परिचय देना व वह परिचय अच्छे ढंग से देना कोई अनीति की बात नहीं है। पर इस प्रवृत्ति में अनैतिकता यहाँ तक बढ़ गई है कि लोग असत्य प्रायः व मानव-जाति के अहितकर पदार्थों का भी विज्ञापन करने में लाखों रुपये खर्च करते हैं। अणुव्रती इस विषय में अपनी प्रामाणिकता समझे। अतिशयोक्ति पूर्ण, असत्य-बहुल विज्ञापन उसके लिये वर्जनीय है।

परीक्षा और अवैध प्रयत्न

अनैतिकता को महामारी इतनी बढ़ चली है कि विद्यालयों में पढ़ने वाले सुबोध बालक भी उससे आक्रान्त हो गये हैं। इस महामारी से उनका बचना जरूरी है। बालक भावी समाज की ईंट है, उन पर ही भविष्य का प्रासाद खड़ा होने वाला है। यदि भावी प्रासाद की मूल-

मूल ईंट ही जर्जरित एवं खोखली रहेगी तो सुनहरे भविष्य की क्या आशा की जा सकती है। आज प्रति-वर्ष प्राईमरी, हाईस्कूलों तथा कालेजों में सहस्रों विद्यार्थी उत्तीर्ण होने के लिये अवैध प्रयत्न करते हुये पकड़े जाते हैं। कुछ परीक्षा में जाते समय किसी प्रकार छिपा करके संकेत पत्र ले जाते हैं और कुछ वहाँ बैठ कर परस्पर नकल करने का प्रयत्न करते हैं। यह बीमारी यहाँ तक भी बढ़ गई है कि कहीं-कहीं एक छात्र के बदले दूसरा छात्र परीक्षा देने चला जाता है। विद्यार्थियों में और भी नाना रहस्यमय प्रकार इस सम्बन्ध में प्रचलित हो चले हैं। विद्यार्थी-जीवन के लिये यह एक कलंक की बात है। इसका प्रतिकार स्वयं विद्यार्थियों द्वारा ही हो, यही एक मात्र रास्ता अब बच गया है। व्यवस्थापकों की सावधानी दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही है फिर भी वह विद्यार्थियों की चालाकी से बहुत पीछे है।

पिछले वर्ष की घटना है—एक स्कूल के विद्यार्थियों की परीक्षा चल रही थी। इतने में एक बाहर का लड़का निरीक्षक अध्यापक के पास आया और बोला—मेरा भाई परीक्षा में बैठा है। शीघ्रतावश बिना कुछ खाये पिये चला आया है। उसके लिये मैं यह दूध का ग्लास व कुछ बिस्कुट लाया हूँ। बड़ी कृपा होगी यदि आप यह सब उसके पास पहुँचा दें। अध्यापक उदार था, दूध का गिलास व बिस्कुट अपने हाथों में लेकर उसे देने के लिये चला। रास्ते में अनायास उसके हाथों से एक मक्खनी बिस्कुट गिर पड़ा। गिरने से दो बिस्कुट अलग-अलग हो गये। दोनों के बीच में एक कागज था। जिसे मास्टर ने उठा कर देखा तो उसमें चालू परीक्षा सम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर थे। मास्टर बोला—इतने दिन कहा

जाता था कि पाप का घड़ा फूट जाता है पर यह आज पता चला कि पाप का बिस्कुट भी टूट जाता है। अस्तु, आवश्यकता है विद्यार्थी स्वयं अपने आपको सम्भालें और अपनी शुद्ध प्रतिभा का इस प्रकार दुरुपयोग न करें।

विद्यार्थी के जीवन में बहुत सारी महत्वाकांक्षायें होती हैं—मैं एक असाधारण कवि बनूं, एक चिन्तनशील दार्शनिक बनूं, एक अप्रतिभ राजनीतिज्ञ बनूं और देश के गौरव को ऊँचा करने वाला एक वैज्ञानिक बनूं; किन्तु यह सब महत्वाकांक्षायें तथा-प्रकार के दुरुपयोग से देखते-देखते अस्त हो जाती हैं। ऐसे बालकों का जीवन-सौन्दर्य और मायाचार से भर जाता है और अपने असफल जीवन में इधर उधर भटकते रहे जाते हैं। उक्त प्रकार की महत्वाकांक्षाओं के फलित होने में सत् परिश्रम व बुद्धि का सदुपयोग ही एक मात्र हेतु बन सकता है।

यह एक प्रश्न है विद्यार्थी-जीवन में इस प्रकार की तथा अन्य प्रकार की बुराइयाँ क्या कैसे आती हैं? उसके नाना-कारण हैं। प्राचीनकाल में विद्यार्थी-समूह नैतिक और चारित्रिक दृष्टि से इतना पवित्र समझा जाता था कि उसको ब्रह्मचारी संज्ञा से सम्बोधित किया जाता था। जिसका अर्थ 'ब्रह्म अर्थात ज्ञान की प्राप्ति के लिये अनुष्ठान करने का व्रतधारी लगाया जाता था। छात्रावस्था केवल शब्द-ज्ञान के लिये ही नहीं होती थी, किन्तु उसमें संयमी होकर इस लोक व पर-लोक के सुधरने की साधना भी की जाती थी। उस समय के विद्यार्थी अधिकांशतया ग्राम और नगर के दूषित वातावरण से दूर गुरुकुलों में शिक्षा-ग्रहण करते थे। शिक्षा के विषय में आज यह व्यवस्था नहीं है। विद्यार्थी अपने घर, मुहल्लों, बाजार व 'सिनेमा' आदि के दूषित वातावरण

में पलता है। व्यवस्था के अनुसार वह ४—६ घंटे अध्यापकों के वातावरण में रहता है। शेष समय वह क्या करता है? उसके लिये कोई जिम्मेवार नहीं। विद्यार्थी माता-पिता और अध्यापक, इन दो संरक्षकों में आवारा बन जाता है। उसके समग्र जीवन के संरक्षक व्यवस्था के अनुसार न माता-पिता रह सकते हैं न अध्यापक। यह एक असाधारण हेतु है कि बालकों के मस्तिष्क में भी समाज के चारों ओर के अनैतिक वातावरण से नाना दुर्बुद्धियाँ घर कर लेती हैं और अपने शिक्षा-विकास के साथ-साथ वे वंचना—विकास भी करते जाते हैं।

समस्या जटिल हो जाती है। वर्तमान वातावरण से बालकों में अनैतिकता आती है और वे ही आगे चलकर समाज के कर्णधार बनते हैं। तब अनैतिकता समाज में पुनः आ जाती है। फिर भी सुधार आवश्यक है। सोचना है वह कहाँ से शुरु हो। प्राचीनकाल की तरह पढ़ने के लिये बालकों को जंगल में खदेड़ देना भी पर्याप्त समाधान नहीं है। आज की पीढ़ी जिसमें बालकों के अध्यापक, माता-पिता व अन्य सामाजिक जन आ जाते हैं वे स्वयं सुधरें। वंचना-पूर्ण व्यवहारों से दूर रहें तो बालकों के आचरण स्वस्थ रह सकेंगे।

दूसरा मार्ग है—बालक स्वयं अपने अनुशासक बनें। किसी भी काम को करते समय वे यह सोचें मेरे अभिभावक या अध्यापकजन सामने होते तो मैं यह करता या नहीं। यदि आत्मा से उत्तर मिलता है—नहीं, तो वे उस काम को न करें। इससे वे आवारा नहीं बनेंगे और गुरुजनों के

स्मृति उनका पथ-प्रदर्शन करती रहेगी। अणुव्रती विद्यार्थी इस दिशा में पहल करें, यह अत्यन्त अपेक्षित है।

अध्यापक और अवैध सहयोग

विद्यार्थियों की दुष्प्रवृत्ति में अध्यापक भी कभी-कभी योग-भूत देखे जाते हैं यह तो और भी दुःख की बात है। रिश्वत लेकर, किसी की सिफारिश से व अपनी ट्यूशन की लाज बचाने के लिये अध्यापक अवैध प्रयत्नों से किसी विद्यार्थी को उत्तीर्ण करने का प्रयत्न करते हैं। अध्यापक जीवन के लिये इससे बढ़कर और क्या अनैतिकता हो सकती है? जिस अध्यापक के हाथ में देश और समाज की बहुमूल्य सम्पत्ति होकर विद्यार्थी आता है उस बालक को अवैध प्रयत्न से उत्तीर्ण करके अध्यापक अपना आत्महनन करता है, विद्यार्थी को भविष्य के लिये वंचना का मार्ग बताता है और देश व समाज के साथ एक गद्दारी करता है। क्योंकि वह देश व समाज की एक बहुमूल्य सम्पत्ति को बिगाड़ता है। बहुत कम आशा है जो बालक एक या दो बार इस प्रकार के सहयोग से उत्तीर्ण हो जाता है वह आगे चलकर परिश्रमशील रह सके व जीवन में कोई सात्त्विक विकास कर सके।

अणुव्रती अध्यापक का जीवन विद्यार्थियों के लिये स्वयं एक पुस्तक होगा। अध्यापक किसी विशेष उपक्रम से जैसे विद्यार्थियों को वंचना सिखाने में हेतुभूत हो जाता है वैसे ही वह अपने आचरण से भी हो जाता है। अध्यापक धूम्रपान करता है, यह कैसे हो सकता है कि विद्यार्थी उससे बचा रहे। इस प्रकार पाठ्यक्रम की पुस्तकों से भी बढ़कर प्रेरणायें अध्यापकों के जीवन से मिलती है। अपेक्षा तो ऐसी

लगती है, बालकों के जीवन को नैतिक व आदर्श बनाने के लिये हर एक अध्यापक अणुव्रती या उस प्रकार के आदर्शों पर चलने वाला ही हो।

पत्रकार व अनैतिकता

पत्र पत्रिकायें आज के मनुष्य की खुराक हैं। बिछौने से उठते ही शारीरिक खुराक चाय और मानसिक खुराक समाचार पत्र होते हैं। प्राचीनकाल में प्रातःकाल का समय शास्त्र-स्वाध्याय के लिये होता था। उठते ही नित्य-कर्म से निवृत्त होकर लोग गीता, रामायण आदि का वाचन करते, स्वाध्याय-चिन्तन करते व सूत्र-श्रवण करते। धीरे-धीरे आज वह स्थान पत्र-पत्रिकायें ले रहे हैं। पत्रकारों की यह भूलना नहीं है, जन-जन के जीवन में सत् प्रेरणायें देने का दायित्व जो शास्त्रीय साहित्य का था, वह अब पत्र-पत्रिकाओं का होने लगा है। पत्रकारों को यह सोचना है, क्या वे अपने पत्र-पत्रिकाओं को इसके उपयुक्त बना सकेंगे ? पत्रकारों का काम केवल यहीं समाप्त नहीं हो जाता कि कल दिन में होने वाली चोरी, डकैती, हत्या अग्निकाण्ड व अन्यान्य दुर्घटनायें प्रातःकाल होते ही वे जनता के सामने रख सकें। ये बातें तो जनता के सामने न भी आयें तो कोई वृहत् क्षति होने वाली नहीं है। आज जनता को आवश्यकता है—नैतिक पाथेय की।

पत्रकारिता एक व्यवसाय

सभी सामाजिक पहलुओं में अनैतिकता हो और पत्र-कारिता इससे अछूती रह सके, यह कैसे सम्भव था। आदर्श की छाया में अनादर्श सदा चलता ही है। जहां एक ओर देश में आदर्शवादी पत्रकार

अपने पत्रों का स्तर क्रमशः उच्च बनाते हुये जन-व्यवहार को उच्च बनाने में प्रयत्नशील हैं, वहाँ ऐसे भी पत्रकार हैं जिन्होंने पत्रकारिता को केवल व्यवसाय बना लिया है। जन-रुचि को कैसे सात्त्विकता की ओर ले जाना है इसकी उन्हें चिन्ता नहीं, उन्हें चिन्ता है अच्छी-बुरी जो जन-रुचि है उसका पोषण करते हुये अपने व्यवसाय को बढ़ाने की। व्यवसाय बढ़ाने की बुद्धि भी यहाँ तक आगे बढ़ गई है, दो समाजों को लड़ा देना, अश्लील विचार-सामग्री एवं विज्ञापन देना, अप्रमाणित व अल्प प्रमाणित समाचारों को शनैः शनैः पूर्ण बना के किन्हीं बड़े आदमियों से धन एठना आदि कार्य तो सहज होने लगे हैं।

ऐसे लोग कहा करते हैं—ऐसा किये बिना हम लोग अपने पत्रों को चला नहीं सकते। यह तो पत्रकारिता व्यवसाय की कुशलता है। उन्हें यह सोचना चाहिये, तथाप्रकार की नीति पर आधारित पत्र यदि नहीं भी चलेंगे तो देश व समाज की कोई हानि होने वाली नहीं है। पत्रकारिता को यदि व्यवसाय भी माना जाये तो उसका अर्थ यह तो नहीं है कि उसे अनैतिकता के आधार पर ही चलाया जाये। व्यवसाय नाना प्रकार के हैं पर अर्थोपार्जन के हेय तरीके तो किसी व्यापार में क्षम्य नहीं हैं। अणुव्रती पत्रकार किसी भी स्थिति में स्वार्थ, लोभ व द्वेषवश भ्रमोत्पादक व मिथ्या संवाद, लेख व टिप्पणी प्रकाशित न करे।

अचौर्य-अणुव्रत

अदत्त ग्रहण के विषय में विवक्षा करते हुए भगवान् श्री महावीर ने कहा—"लोभी आदमी अदत्त को ग्रहण करता है"[1] श्री गौतम बुद्ध ने कहा—"जो अदत्त का ग्रहण नहीं करता उसे ही मैं ब्राह्मण कहता हूँ"[2] महात्मा ईसा ने कहा—"तुझे चोरी नहीं करनी चाहिए।" अस्तु सभी धर्म-शास्त्रों में अदत्त को एक महान् पाप माना है। अदत्त ग्रहण एक असामाजिक तत्त्व है, जो चोरी, डकैती आदि नाना रूपों में फलित हुआ है, पर यह चोरी का स्थूल रूप है। विशेष मीमांसा करते हुए तो शास्त्रकारों ने बताया—"दंत शोधनार्थ तृणमात्र का भी अदत्त ग्रहण विवर्जित है।"[3] चोरी क्या है? इसका उत्तर शास्त्रकारों ने दिया—"इच्छा, मूर्च्छा, गृद्धि, असंयम, कांक्षा, हस्तलघुता, पर-धन हरण, अस्तेनक, कूटतोल, कूट-माप[4] और बिना दी हुई वस्तु लेना ये सब चोरी के ही प्रकार हैं।"

१—लोभाविले आययइ अदत्तम्।

२—लोके अदिन्नं नादियति तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं।

३—दन्त सोहण माइस्स, अदत्तस्स विवज्जणं।
अणवज्जेसणिज्जस्स गिण्हणा अवि दुक्करं।
—उत्तराध्ययन अ० १६ गा० २७

४—इच्छामुच्छा तण्हागेहि असंजमो कंखा।
हत्त लहुत्तणं परहडं तेणिक्कं कूडया अदत्तम्।
—प्रश्न व्याकरण १, ३—१०

अस्तेय की इस प्रकार से व्यापक मीमांसा होने जा रही नवीन समाज-व्यवस्था के लिए बड़ी उपयोगी सिद्ध होती है। जहाँ महात्मा गांधी ने कहा—"आवश्यकता से अधिक जो संग्रह है मैं मानता हूँ वह चोरी है" पर आज का नया चिन्तन समाजवादी समाज-रचना की ओर मुड़ चला है। वहाँ तो यहाँ तक भी मान लेना होगा—प्रत्येक वस्तु समाज की है। उसे वैयक्तिक मान लेना भी अवैध और चोरी है।

भगवान महावीर ने मूर्च्छा और तृष्णा मात्र को चोरी कहा। उन्होंने बताया—धनादि पदार्थों की ही नहीं और भी उसके नाना रूप हैं—"जो तपस्वी नहीं है और समाज में तपस्वी होने का भाव प्रदर्शित करता है, वह तप की चोरी है। इसी तरह वचन का चोर, रूप का चोर, आचार का चोर आदि नाना चोर होते हैं और वे किल्विष (क्षुद्र) योनि में उत्पन्न होते हैं।"[1] अस्तु—इस प्रकार अस्तेय के नाना प्रकार होते हैं पर यहाँ उसकी दार्शनिक चर्चा में न जाकर उसके स्थूल रूप को ही अधिक समझना है। क्योंकि अणुव्रत-आन्दोलन जीवन-व्यवहार का ही एक सरल और सहज दर्शन है।

चौर्य के समाज में दो रूप प्रचलित हैं। पहला किसी की वस्तु को आँख बचाकर या बलात् उठा लेना। दूसरा रूप है—झूठा तोल-माप, मिलावट आदि करना व राजकीय कर आदि न देना। कुछ लोग कहते हैं—चोरी का सही अर्थ तो पहला प्रकार ही है। यह ठीक नहीं। यदि ऐसा होता तो अचौर्य-

---

१—तवतेणे वयतेणे रूवतेणे य जे नरे।

आयार भाव तेणे य कुव्वइ देवकिब्बिसं।

—दसवेकालिक [illegible]. [illegible]. ४६।

अणुव्रत आवश्यक न होकर हर एक गृहस्थ के लिये अचौर्य-महाव्रत जरूरी होता। पर इसे अणुव्रत इसलिए कहा गया है कि अचौर्य के मानसिक व वाचिक नाना सूक्ष्म भेद हैं। जिनकी साधना समाज-व्यवहार में चलते हुये मनुष्य के लिये असम्भव है। अतः दूसरों की वस्तु को उठा लेना व झूठा तोल-माप करना आदि जो चोरी के स्थूल रूप हैं, उन्हें अचौर्य अणुव्रत के द्वारा समाप्त करना अपेक्षित है।

चोर-वृत्ति

मेगस्थनीज, फाह्यान, ह्वेनत्सांग आदि विदेशी यात्री भारत वर्ष में आये और उन्होंने यहाँ के सांस्कृतिक वातावरण का एक तटस्थ अवलोकन किया। अपने देशों में जाकर अपनी यात्रा के जो संस्मरण लिखे, उनमें उन्होंने बताया—भारतवर्ष ही एक ऐसा देश है—जिसमें सोने, चांदी और मोतियों की दुकानों पर भी ताले नहीं लगते। यह स्थिति चाहे कितने अंशों में ही सत्य हो, उसमें भारतवर्ष का एक नैतिक गौरव प्रगट होता है। आज की स्थिति ऐसी नहीं है। हो सकता है रात को किसी के घर में घुस कर सेंध आदि लगाकर की जाने वाली चोरियां अत्यधिक न होती हों पर स्फुट चोरियों का बोलबाला तो बहुत ही बढ़ गया है। सार्वजनिक सभाओं में, मन्दिरों व अन्यान्य धर्मस्थानों में जूते उठा लेना, छाता उठा लेना आदि तो बहुत व्यापक हो गया है। घरों में, दुकानों में आँख चूकते ही चोरी हो जाती है। उससे ऐसा लगता है, आम जनता में चोरी की प्रवृत्ति काफी बढ़ गई है। रात को सेंध लगाकर चोरी करने वाले चोरों से जितना समाज का अहित नहीं होता था, उतना इन सस्ते चोरों से हो रहा है।

पाकेटमारी के भी अजब-अजब तरीके आये दिन सुने जाते हैं। विशेष ध्यान देने की बात यह है पाकेटमारी के रास्ते पर पुरुषों की अपेक्षा लड़के अधिक बढ़ रहे हैं। यह समाज के लिये कितना अहितकर है। मनुष्यता के नाते दूसरों की किसी वस्तु को चाहे वह छोटी हो या बड़ी, चोर-वृत्ति से उठाना अवांछनीय है। अणुव्रती के लिये तो इस विषय में और भी कुछ ध्यान देने की बातें हैं—मार्गादि में पड़ी वस्तु को भी वह इस बुद्धि से न उठाये कि यह तो मुझे अनायास मिली है। इसका मालिक भी मिला तो मैं उसे यह चीज नहीं बताऊँगा।

दो भाइयों के अधिकार की वस्तु यदि एक भाई के अधिकार में है और उस वस्तु को लेकर झगड़ा चल रहा है व चलने वाला है तो अणुव्रती ताला तोड़कर-तिजोरी खोल कर चोर-विधि से वह वस्तु अपने अधिकार में न ले।

अणुव्रती दो या अधिक व्यक्तियों के अधिकार की वस्तु को हजम करने की नीयत से अपने पास न रखे। जब तक वह वस्तु विवाद-ग्रस्त हो तब तक यदि सुरक्षा के ध्येय से उसे अपने अधिकार में रखना पड़े, वह दूसरी बात है।

चोरी में सहायता

चोरी, डकैती जैसे घृणित कार्यों में बुद्धि, धन आदि देकर सहयोगी होना भी एक प्रकार से चोरी ही है। सहयोगी होने का एक दूसरा भी प्रकार है जिसमें व्यक्ति का यह उद्देश्य नहीं होता कि मैं चोर को सहयोग करूँ पर चोरी में लाई हुई चीजों को सस्ती देखकर मुँह में पानी चल जाता है और उन्हें वह खरीद लेता है।

यह चोरी को परोक्ष योग-दान है। चोरी की वस्तु को खरीदना राजकीय अपराध भी है। अणुव्रती यह जान लेने पर कि यह वस्तु चोर-वृत्ति से उठा कर लाई गई है, फिर उसे न खरीदे।

राज्य-निषिद्ध व्यापार

जिस वस्तु का व्यापार करने में राजकीय नियम के अनुसार लायसेन्स लेना अनिवार्य है, बिना लायसेन्स लिये तथा प्रकार का व्यापार करना राज्य-निषिद्ध की कोटि में है; जो ठेके के व्यवसाय हैं अर्थात् जिन व्यवसायों के लिये राज्य व्यक्ति विशेष को ही अधिकार देता है ऐसे व्यवसाय बिना राज्यकीय अधिकार पाये करना भी राज्य निषिद्ध व्यापार में है। यहाँ यह जान लेना आवश्यक होगा, अब तक प्रायः नशीली वस्तु के लिये ही ठेका देने की प्रथा है। नशीली जैसे—मद्य, अफीम, भांग, गांजा आदि के व्यापार से बचना तो अणुव्रती के लिये अनिवार्य है ही, साथ-साथ उक्त प्रकार की अन्य नशीली वस्तुओं के व्यवसाय से भी बचना श्रेयस्कर है।

राज्य निषिद्ध आयात-निर्यात

लोग व्यक्तिगत स्वार्थ के सामने सामूहिक स्वार्थ को कहाँ तक भुला देते हैं और किस प्रकार के धूर्ताचार करते हैं इसकी एक दिलचस्प घटना है। एक व्यापारी ने स्वयं बताया हम फ्रांसीसी बस्तियों से बिना जकात चुकाये कपड़ा बंगाल में लाया करते थे। बहुत सारे तरीकों में हमारा एक तरीका यह था—हम लोग थोथे बांसों की एक अर्थी (सीढी) बनाते। जितना कपड़ा बांसों में भरा जा सकता था व अर्थी पर लपेटा व बिछाया जा सकता था

बिछा देते। हमारे साथियों में से एक आदमी मुर्दा बन कर उस अर्थी पर सो जाता। हम चार आदमी उसे उठा लेते और दो चार आदमी हमारे साथ "राम नाम सत है सत बोल्याँ गत है।" यह कहते हुये हमारे पीछे-पीछे चलते। इस प्रकार हम फ्रांसीसी सीमा को पार कर कपड़ा भारत-वर्ष में लाते।

आयात-निर्यात की चोरियों में लोगों की बुद्धि का जितना विकास हुआ उतना किसी सत्कर्म में होता तो न जाने कितना निर्माणात्मक काम होता। सुना गया है सोने को दूसरे देशों से लाने वाले लोग जांघ फाड़ कर उसमें सोना भर लेते हैं, कुछ गोलियाँ बना कर निगल जाते हैं। लोगों में चोरी के तरीके बढ़े हैं तो राज्याधिकारियों में उन चोरियों को पकड़ने के तरीके बढ़े हैं। वे भी ऐसे-ऐसे स्थलों पर ऐक्सरे की व्यवस्था रखने लगे हैं। ऐक्सरे के सामने आये बिना कोई व्यक्ति सीमा को पार नहीं कर सकता। सामने लाये गये व्यक्तियों में शरीर में सोना रखने वाले बहुत सारे व्यक्ति पकड़े गये हैं। इस प्रकार भविष्य में चोरी करने वालों व पकड़ने वालों में कौन किससे आगे रहेगा यह नहीं कहा जा सकता पर इससे बुराइयों का अन्त सम्भव नहीं, यह तो निश्चित ही है। जनता में नैतिक आचरणों का उदय हो यही एक मात्र समस्या का हल रह जाता है।

आयात-निर्यात को लेकर कुछ चोरियाँ ऐसी भी हैं, जो समाज में सभ्य व ऊँचे माने जाने वाले बड़े-बड़े व्यापारी करते हैं, जैसे इल्लीगल एक्सचेन्ज का व्यवसाय। हिन्दुस्तान, पाकिस्तान के बीच मुद्राभाव के अन्तर का नाजायज फायदा

बहुत सारे लोग उठाते हैं—यह सुना गया है। अणुव्रती उक्त प्रकार की सभी बुराइयों से बचे।

एक देश से दूसरे देश की तरह कभी-कभी दो प्रान्तों में आयात-निर्यात व स्थायी-अस्थायी प्रतिबन्ध चलते रहते हैं। उन्हें तोड़कर आयात-निर्यात का व्यापार करना भी अणुव्रती के लिये वर्जित है।

व्यापार में अप्रामाणिकता

भारतवर्ष में आजकल का व्यापार अप्रामाणिकताओं का केन्द्र बन गया है। उन अप्रामाणिकताओं का सम्बन्ध असत्य से भी है और चोरी से भी। असत्य वाणी है, चोरी कर्म है अस्तेय अणुव्रत में तथाप्रकार के कर्मों का निरोध आवश्यक माना गया है।

मिलावट

इस विषय में मिलावट का प्रश्न पहला माना जा सकता है। आज का मनुष्य मनुष्यता से कितना नीचे खिसक गया है, यह मिलावट के प्रचार से भली-भाँति जाना जा सकता है। आज उसकी दृष्टि में पैसा परमेश्वर है और मनुष्य-मनुष्य भी नहीं। भारतवर्ष जैसे धर्म-प्रधान देश के लिये क्या यह लज्जा की बात नहीं कि दूध के नाम से पानी, फटा दूध, पाउडर, घी के नाम पर वेजीटेबल घी, डालडा, चर्बी, आदि के नाम पर शक्करकन्दी व सिंगराज का चूर्ण, सरसों के तेल के नाम से मूंगफली, अलसी व सियालकांटी का तैल, मिठाई व आइसक्रैंडी के नाम से शुद्ध चीनी के बदले सेक्रीन, मक्खन के नाम पर दही के साथ वेजीटेबल घी को मथ कर बनाया गया नकली मक्खन, सर्वसाधारण को मिलता है। और भी न जाने मिलावट के क्या-क्या प्रकार हैं। एक चाय

के व्यवसायी ने बताया, जमाना तरक्की कर गया, मिलावट की बात तो अब पीछे रहने लगी है लोगों ने तो १६ आना अशुद्ध वस्तु दे देने के भी प्रकार खोज निकाले हैं। चनों के छिलकों की नकली चाय ऐसी बनने लगी है कि बिना सच्ची चाय की एक भी पत्ती मिलाये सहस्रों मन का आयात-निर्यात शहरों में होने लगा है। यह है भारतवासियों की बुद्धि का सदुपयोग और धर्मपरायणता का नमूना।

यही हाल दवाइयों के विषय में है। अधिकांश दवाइयां सभी की शान-शक्ल में नकली बनने लगी हैं। शुद्ध खाद्य के अभाव में पहले तो लोग अधिक संख्या में बीमार होते हैं, फिर स्वास्थ्य-लाभ के लिये इन नकली दवाइयों का सेवन करते हैं। यहाँ तक भी खैर। वैद्य कहता है—दवा-सेवन करते हो तब तक चीनी व चीनी की मात्र वस्तु तुम्हारे लिये विष है। पूरा ध्यान रखना शुद्ध मधु के साथ तुम्हें दवा लेनी है। बेचारा बाजार में किसी दुकान पर "शुद्ध मधु" लिखा विज्ञापन देखकर मधु खरीद लेता है, पर वास्तव में वह मधु जिसके साथ वह दवा लेता है, शुद्ध चीनी होती है; जिसके परहेज स्वरूप वह दूध भी फीका पीता है। अस्तु, नैतिक पतन की इस दयनीय दशा पर किसे तरस नहीं आती होगी।

व्यापारी कहते हैं मिलावट किये बगर हमारा व्यापार नहीं चलता पर उन्हें इस बात की चिन्ता नहीं, मिलावट करने से समाज का जीवन-व्यवहार कैसे चलेगा। जो लोग सरसों के तेल में सियालकांटी का तेल मिलाते हैं, वे जानते हैं कि इस तेल के व्यवहार से लगाने वाले के शरीर में फोड़े फुन्सियाँ आदि होंगी। माधान्य करने वाली "सेक्रिटक"

भी हो सकती है पर उन्हें चिन्ता है अपने व्यवसाय चलाने की। जब कभी तत्सम्बन्धी विभाग के इन्सपैक्टर दूकानदारों की दूकान पर जाकर जांच करते हैं और तत्पश्चात् मिलावट सम्बन्धी आंकड़े उपस्थित करते हैं तो सुनने वालों को आश्चर्य हुये बिना नहीं रहता। अणुव्रती का व्यवसाय अप्रामाणिक नहीं हो सकता। व्यवसाय चले या नहीं भी, वह मिलावट कर जनता के स्वास्थ्य और जीवन के साथ खिलवाड़ नहीं करेगा।

असली के नाम पर नकली

जैसा कि बताया गया तरक्की के जमाने में बुराइयां भी तरक्की करती जा रही हैं, मानो व्यापारियों ने सोच लिया है, मिलावट में आधी वस्तु तो सच्ची चली जाती है, वह भी क्यों? इसलिये दूसरा रास्ता अपनाया—दिखाना कुछ और देना कुछ। दिखाना असली और देना नकली। चल सके तो दिखाना भी नकली और देना भी नकली। कल्चर मोती को खरे बता कर दे देना व नकली घी को असली बता देना आदि इसके अनेकों उदाहरण हैं। अणुव्रती के लिये इस प्रकार का व्यवहार सदा वर्जनीय है।

प्रकार भेद

मिलावट व असली-नकली की तरह प्रकार भेद की भी एक प्रचलित बुराई है। ग्राहक को जो वस्तु दिखाई गई थी, देते समय उसी वस्तु की नीची क्वालिटी दे देना प्रकार भेद है। उदाहरणार्थ दिखाया "टोप" क्वालिटी का जूट और दे दिया "मिडियम" क्वालिटी या "बोटम"

क्वालिटी का। इसी उदाहरण से और भी नाना प्रकार के भेदों को समझा जा सकता है। अणुव्रती इनसे बचे।

कटौती अर्थात् बीच में खाना

बीच में खाने का रोग भी जन-जन में छा गया है। चार पैसे की वस्तु खरीदकर एक पैसा बीच में खाना चाहता है। बड़े-बड़े फर्मों में काम करने वाले मुनीम और गुमास्ते भी अवसर पाते ही हाथ रंग लेते हैं। पतन यहाँ तक हो चुका है, रसोइया घी या चीनी चुराने लगा है, बिलोने वाली मक्खन की जगह ले लेती है, गोदुहा बीच में ही दूध पी जाने से बाज नहीं आता। लोगों का जीवन बहुत जटिल-सा होता जा रहा है। नौकर और मालिक का पारस्परिक विश्वास टूट गया है। जीवन में नीरसता पैदा हो गई है। नौकर भी धोखा दे, रसोइया भी धोखा दे, मुनीम भी धोखा दे, ऐसी स्थिति में एक ही व्यक्ति रसोई सम्भाले या दूकान।

व्यापार जगत् की ओर ध्यान देते हैं तो चलानी के काम वाले कहते हैं, आढ़तियों के यदि हम सही भाव लगाते रहें तो हमारा व्यापार चल नहीं सकता। रूई, सोना, चांदी, शेयर आदि का व्यापार व सट्टा करने वाले अपनी आमदनी भी यही समझ बैठे हैं कि खरीदना किसी भाव और लिखाना किसी भाव। यही हाल हर प्रकार की दलाली करने वालों का है।

विषय बहुत व्यापक है जीवन के हर पहलू से इसका लगाव है। अणुव्रती किसी भी क्षेत्र में चलता हुआ उक्त बुराई से सर्वथा बचे।

कुछ लोग मानते हैं व्यापारी का आदेश मिला, इस भाव तक तुम इतना माल खरीद सकते हो। यदि उससे भी नीचे भाव में माल मिल गया और व्यापारी ने वह भाव लगाया, जो उसने लिखा था तो यह कटौती नहीं है, पर ऐसा समझना भूल है।

गांठ बंधाई आदि के दाम भी यदि बाजार की प्रचलित प्रथा से ज्यादा काटे जाते हैं तो वह कटौती ही है। यदि किसी व्यक्ति ने कंठा, हार, अंगूठी व अन्य कोई वस्तु निश्चित दर बता कर दलाल को बेचने के लिये दी और वह उसे बाजार में ऊँची दर पर बेचता है और बीच का पैसा खुद रख लेता है तो वह भी कटौती ही है। वह दूसरी बात है कि वह विक्रेता से पहले ही स्पष्ट करले कि आपकी कीमत से यदि ऊँचे मूल्य में मैं इस वस्तु को बेच सका तो वह लाभ मेरा होगा। सौदे में बीच में खाना अणुव्रती के लिये जैसे वर्जनीय है, वैसे ही किसी कार्य में बिना हक के पैसे ले लेना वर्जित है। उदाहरणार्थ—मालिक या कम्पनी की ओर से रेल यात्रादि करके व्यक्ति बाहर गया है। यह स्वतः सिद्ध है, यात्रादि में भोजनादि का खर्च मालिक का है पर इस खर्च में लगे सौ रुपये और बतायें डेढ सौ रुपये, यह बिना हक का पैसा लेना है।

झूठा तोल-माप

झूठा तोल-माप करना एक बड़ी से बड़ी अप्रामाणिकता है। सच बात तो यह है ऐसा करके व्यापारी ग्राहक से अधिक अपने आपको धोखा देता है। जिस ग्राहक ने जिस दूकानदार से एक बार धोखा खाया, क्या यह सम्भव है, कि वह दूसरी बार उस दूकान पर पैर रखेगा? फिर भी

स्वार्थवश व्यवसायी लोग सुदीर्घ की नहीं सोचकर सामने की ही सोचते हैं। बाजारों में प्रामाणिकता के लिये "धर्म का कांटा" भी लगा रहता है। बाजार में "धर्म का कांटा" इस नाम से तोल-माप की व्यवस्था होना ही समस्त बाजार में प्रचलित तोल-माप सम्बन्धी अप्रामाणिकता का सूचक होता है। फिर भी उसकी यथार्थता हो सकती है यदि वह चिरकाल के लिये "धर्म का कांटा" ही बना रहे। पर देखा जाता है, लोग अपने झूठे तोल-माप को सही साबित करने के लिये रिश्वत आदि देकर उसे भी पाप का कांटा बना देते हैं।

बट्टा काटने की नीयत

बट्टा काटने की नीयत से माल को खराब कर देना या खराब व दागी ठहराने का प्रयत्न करना अनैतिकता का सूचक है। ऐसी प्रवृत्ति से व्यापारी धीरे-धीरे सारे बाजार में झगड़ालू प्रसिद्ध हो जाता है और लोग उससे क्रय-विक्रय करने से बचाव रखते हैं। माल जितना खराब या दागी है, उसके लिये बट्टा काटने की उचित मांग करना दूसरी बात है। अणुव्रती अतिरिक्त लाभ उठाने व निरर्थक झगड़ा खड़ा करने से सदा बचे।

व्यापार और चोर-बाजारी

लोग कहते हैं, चोर-बाजारी तो अब लगभग मिट गई है। उन्हें पूछना चाहिये वह लोगों के मन से मिट गई है या परिस्थिति से मिट गई है। वह मन से नहीं मिटी है। आज भी कंट्रोल हो और चोर-बाजारी चल सकती है तो पहले से थोड़ी भी कम होगी यह नहीं सोचा जा सकता। मिटना तो वह है जो लोगों के मन

से ही मिट जाये। कंट्रोल भी हो, चोर-बाजारी चल भी सकती हो तब भी उसको चलाने वाला कोई न हो। पर उसका मूल तो अप्रामाणिकता में है और वह जीवन में कूट-कूट कर भरी है। कंट्रोल भी सदा के लिये चला गया ऐसी बात नहीं है। अतः इस विषय को स्पष्ट कर देना आवश्यक ही प्रतीत होता है। आन्दोलन के नियमों में चोर-बाजारी का नियम बहुत महत्वपूर्ण रहा है। उसका एक इतिहास बना है। जिन दिनों कालाबाजार अपनी उत्कृष्ट स्थिति में था—तब भी अणुव्रती उससे मुँह मोड़ कर चले। लाखों के लाभ को ठुकराया। सचमुच वह एक आदर्श की बात थी।

जिस वस्तु का जो मूल्य राज्य ने निर्धारित कर दिया, किसी रूप में उससे अधिक मूल्य लेना ब्लैक (काला बाजार) माना गया है।

चोर-बाजार राजकीय व्यवस्था का भंग और एक सामाजिक अपराध है। यह लोभ की पराकाष्ठा और शोषण का प्रतीक है, अनधिकृत धन को हड़पना है अतः चोरी और डाका है। नियन्त्रण (कंट्रोल) का उद्देश्य तो यही है कि वस्तु के अभाव में लोग जनता से नाजायज फायदा न उठायें व सामग्री की अल्पता में कुछ एक को कोरा ही न रह जाना पड़े। समाज में रह कर व्यक्ति समाज-व्यवस्थाओं से लाभ उठाता है। सामाजिक व्यवस्था के आधार पर ही पलता पुसता है, तो भी तुच्छतम स्वार्थ की पूर्ति के लिये वह उन्हें तोड़ता है। यह सामाजिक व्यवस्था का भंग नहीं, तो और क्या है? मनुष्य असीम काल से सामाजिक जीवन में रहा है फिर भी उसकी व्यष्टिवादी प्रवृत्तियां गई नहीं हैं। अपने अनुचित स्वार्थ- को करने में वह यह भूल जाता है कि मेरे

इस प्रयत्न का समाज के अन्य अंगों पर कितना घातक प्रभाव पड़ता है। क्या ये इतिहास के काले पृष्ठ नहीं बन गये हैं? विगत महायुद्ध के दिनों में इधर अन्न और वस्त्र की अल्पता में लाखों लोग तड़फ रहे थे और उधर व्यापारी लोग लाखों करोड़ों का चोर-बाजार करने में जी जान से जुटे थे। बंगाल में अकाल पड़ा, लाखों लोग सड़कों पर पड़े-पड़े भूखों मरे और मर रहे थे, इधर गोदामों में भरा अनाज और तेजी की परीक्षा कर रहा था। ऐसी प्रवृत्तियां मनुष्यता के लिये अभिशाप हैं और किसी भी स्थिति में क्षम्य नहीं हैं।

यद्यपि चोर-बाजारी से बेचना जितना हेय है, चोर-बाजारी से खरीदना भी उतना ही हेय है, तथापि कभी-कभी स्थिति ऐसी हो जाती है जैसे कि पिछले दिनों होती रही है। उस स्थिति में एक पारिवारिक मनुष्य का बिना चोर-बाजारी के खरीदे जीना भी अत्यन्त कष्ट साध्य हो जाता है। अतः वहाँ एक अणुव्रती एकाएक न भी चल सके तो चोर-बाजारी से व्यापारार्थ होने वाला क्रय-विक्रय तो सर्वथा वर्जित है ही। बहुत सारे अणुव्रती तो खाने-पीने व पहनने की वस्तुयें भी चोर-बाजारी से नहीं खरीदते। ऐसा करने में उन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना भी करना पड़ा। उन्होंने बहुत दिनों तक गेहूँ के स्थान पर बाजरे से, महीन वस्त्र के स्थान पर मोटे वस्त्र से, चीनी के स्थान पर गुड़ से काम चलाया है। यह उनका आदर्श है जो अन्य अणुव्रतियों को भी एक सजग प्रेरणा देता है। एक पारिवारिक जीवन में रहने वाला अणुव्रती चोर-बाजारी न करने के नियम का किस मर्यादा से पालन करे? मालिक चाहता है—चोर-बाजारी

चले—ऐसी स्थिति में अणुव्रती मैनेजर क्या करे, कौन सा व्यवसाय कहाँ तक चोर-बाजारी में है, कहाँ तक नहीं आदि अनेक प्रश्न हैं जिनका स्पष्टीकरण निम्नोक्त प्रकार से है।

जो व्यक्ति व्यवसाय से सर्वथा मुक्त है, अर्थात् निवृत्त है उसके पुत्र-पौत्रादि स्वतन्त्रतापूर्वक व्यवसाय चलाते हैं तो उस व्यक्ति के अणुव्रती होने में बाधा नहीं मानी गई है। कुछ लोगों का तर्क है—वह चोर-बाजारी से अर्जित धन का उपयोग करता है इसलिये वह अणुव्रती बनने का अधिकारी नहीं माना जाना चाहिये। स्थिति यह है—जिस पिता के एक पुत्र है, पिता कार्य निवृत्त है, पुत्र अणुव्रती नहीं है, वह स्वेच्छापूर्वक अपना व्यवसाय चलाता है, ऐसी स्थिति में पिता अणुव्रती करे क्या? सामाजिक जीवन में यह बड़ा कटु होता है कि अणुव्रती बनने के लिये वह अपने एक पुत्र से अलग होकर जीवन बिताये। ऐसे अणुव्रती की अब तक यही मर्यादा पर्याप्त मानी गई है, वह किसी व्यवसाय में भाग न ले व राय आदि न दे। जिस व्यवसाय में अनेक हिस्सेदार हैं और वे ब्लैक छोड़ना नहीं चाहते तो अणुव्रती को या तो उस व्यवसाय से अलग होना पड़ेगा या वह ब्लैक की सम्पत्ति से कुछ भी हिस्सा न लेगा और न अपने हाथ से ब्लैक ही करेगा।

यदि अणुव्रती किसी फर्म में मुनीम (मैनेजर) या गुमाश्ता है, वह अपने हाथों ब्लैक नहीं करेगा और न ऐसा करने के लिये दूसरों को आदेश ही देगा।

मकान किराये के सम्बन्ध में पगड़ी सिलामी आदि लेना ब्लैक में सम्मिलित है।

ब्याज विषयक राज्य का निर्धारण ब्लैक के अन्तर्गत

नहीं आता। विशिष्ट अणुव्रती के लिये उसकी स्वतन्त्र मर्यादा है।

जो कपड़ा कंट्रोल रेट से खरीदा गया हो, उसे रंगवा कर या सिलवा कर बेचने के विषय में ब्लैक विषयक मर्यादा प्रतिबन्धक नहीं है।

जो वस्तु व्यापार के लिये नहीं किन्तु किसी व्यापारिक साधन विशेष के रूप में खरीदी गई है, उसके खरीदने के सम्बन्ध में चोर-बाजारी की मर्यादा लागू नहीं पड़ती। उदाहरणार्थ—मिल, फैक्टरी आदि के पुर्जे व अन्य सामग्री। पर यह तभी है कि साधन वस्तु रूप में परिणत न होता हो। जहाँ साधन ही वस्तु सामग्री है, जैसे—रूई, सूत आदि कपड़े की वस्तु सामग्री है तो उस वस्तु सामग्री का ब्लैक से खरीदना तो वर्जित है ही। इसी तरह आइसक्रीम के लिये खरीदी जाने वाली चीनी के विषय में समझ लेना चाहिये।

जो वस्तु घर खर्च के लिये खरीदी गई, पर किसी कारण से बेचना है तो अणुव्रती ब्लैक से नहीं बेच सकता। चाहे पहले उसने वह ब्लैक में ही क्यों न खरीदी हो।

जिस वस्तु के खरीदने के समय कंट्रोल नहीं था, बाद में कंट्रोल हो गया, तब से अणुव्रती उसे कंट्रोल रेट से अधिक दामों में नहीं बेच सकता।

पदाधिकारी और ट्रस्टी

सभा-संस्थाओं का युग है। सार्वजनिक प्रयोजन के लिये आये दिन एक न एक संस्था खुलती रहती है। उत्तम से उत्तम व्यक्ति पदाधिकारी बनाये जाते हैं। पर उनमें भी कुछ ऐसे निकल जाते हैं, जो अपने अधिकार को इतर स्वार्थों की पूर्ति का साधन बना लेते हैं।

यहाँ तक कि कुछ लोग अपनी आजीविका भी इसी पर निर्भर कर लेते हैं, कि नाना सार्वजनिक कामों का दायित्व लेकर बीच में यथासम्भव गबन करते रहना। देखा जाता है गोशाला जैसी संस्थाओं के पदाधिकारी भी आये दिन रुपये खा जाने के अभियोग में पकड़े जाते हैं। अणुव्रती ऐसी प्रवृत्तियों को घृणात्मक समझकर उनसे सर्वथा बचे। रुपये गबन करने की बात तो दूर उसके लिये तो अधिकार का यत्किंचित् दुरुपयोग भी वर्जित है। ट्रस्टी संरक्षक होता है, वह यदि स्वयं भक्षक हो जाये तो सबसे बुरा है। ऐसा होकर वह विश्वासघात, चोरी आदि अनेकों दुष्कृत्यों का आचरण कर लेता है। अणुव्रती इस विषय में अपनी प्रामाणिकता का लंघन न करे।

कार्यकर्त्ता काम करता जाये यही उसका धर्म है। गीता में कहा गया है—"कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन" कर्म करना तेरा अधिकार है, फल की आकांक्षा नहीं। कार्यकर्त्ता के मन में जब यह धुन लग जाती है कि मुझे सभापति या मन्त्री बनना ही है तो वह अपने कर्त्तव्य से नीचे खिसकता है। उसका तेज मन्द पड़ता है क्योंकि इस लिप्सा में उसे अनेकों को खुश करने की वृत्ति अपनानी पड़ती है, अपने कार्य का विज्ञापन करने को उसे प्रेरित होना पड़ता है। जहाँ कार्यकर्त्ता अपनी धुन से कुछ करने में ही लगा रहता है, वहाँ दूसरे लोग उसे पदाधिकारी बनाने के लिये तड़पते हैं। वहाँ पदाधिकारी न भी बने या वह न भी बनाया जाये, उसका प्रभाव अपने क्षेत्र में व्यापक होता है। अधिकार-लिप्सा के कारण बहुत सारी संस्थायें कार्यकर्त्ताओं के भाग्य-निर्णय का रंगमंच हो जाती हैं। संस्थाओं का

उद्देश्य फीका पड़ जाता है और नाना गुट बन्दियाँ प्रबल हो जाती हैं। अणुव्रती इस दिशा में न्याय का समर्थक रहेगा। वह अपनी पद-लिप्सा की पूर्ति के लिये गुटों व दलों का सर्जक नहीं बनेगा।

बिना टिकट रेल-यात्रा

सन् १९५५ जून तक समाप्त होने वाले एक वर्ष में १२००० व्यक्ति बिना टिकट रेल-यात्रा करने के अपराध में केवल पश्चिम रेलवे पर पकड़े गये। ५६०० व्यक्ति इसी अपराध में जेल भेजे गये।[१]

इससे अन्दाज लग सकता है कि यह बुराई जनता में अब तक कितनी व्यापक है। नियमानुवर्तिता का यह अभाव प्रत्येक सामूहिक व्यवस्था को भंग करता है। लोग अनैतिकता के इतने आदि हो गये हैं कि ऐसी बुराइयों को तो कुछ बुराई जैसी चीज समझते ही नहीं। इसी के परिणाम स्वरूप जीवन के एक-एक पहलू में न जाने कितनी-कितनी बुराइयों ने घर कर लिया है। अणुव्रत-आन्दोलन का काम एक सूक्ष्म दर्शक यन्त्र का है, जो जीवन के सभी पहलुओं से बड़ी व छोटी सभी बुराइयों को ढूँढ निकालना चाहता है। अणुव्रती इस व उस प्रकार की बुराइयों से सर्वथा बचे। वह रेल, बस आदि किसी भी यान में बिना टिकट यात्रा न करे। समय के अभाव व अन्य किसी कारण से उसे बिना टिकट लिये रेल आदि में बैठना पड़ता हो तो अणुव्रती पैसे हजम करने की भावना और चेष्टा न रखे।

इस विषय में आज तक अणुव्रतियों के अनेकों अनुभव सामने आये हैं। कुछ का अनुरोध है—इस विषय में आज

१—नवभारत टाइम्स (बम्बई) २ नवम्बर १९५५

तक की जाने वाली परिभाषाओं के अनुसार एक अणुव्रती जो किसी विशेष स्थिति के कारण टिकट बिना खरीदे गाड़ी में बैठा, उसके लिये यह आवश्यक हो जाता है कि आगे चलकर वह पूछने या न पूछने पर भी रेलवे को अपना पूरा किराया दे। इसमें सफाई तो है पर दुविधा बहुत बढ़ जाती है। ज्यों ही वह आगे का टिकट बना देने के लिये या कृत यात्रा का किराया ले लेने के लिये व्यवस्थापकों से कहता है वे उसकी सचाई की कुछ कीमत नहीं करते, प्रत्युत उसे तरह-तरह से तंग करने लगते हैं। कई ऐसे प्रसंग आ भी चुके हैं। एक दो स्टेशनों की यात्रा का किराया ले लेने का अनुरोध कर देने पर मूल स्टेशन जहाँ से गाड़ी चली, वहाँ तक का किराया लिया गया है और वह भी दुगुना। किराये से भी कहीं अधिक समय का अपव्यय किया गया है, जब कि बिना किराया दिये निकलना चाहते तो बहुत आसानी से निकल सकते थे। इस स्थिति में यदि नियम का स्पष्टीकरण इस प्रकार से हो कि अणुव्रती बिना टिकट यात्रा करने की भावना न रखे, यदि स्थिति वश उसे बिना टिकट खरीदे बैठ जाना पड़ता हो तो उसके लिये यह अनिवार्य नहीं कि अपनी ओर से व्यवस्थापकों को किराया लेने का अनुरोध करे। अस्तु-अणुव्रती की सचाई में भी कोई अन्तर नहीं आयेगा और वह बिना मतलब की दिक्कत से बचेगा।

यह सच है कि आज के युग में लोगों का दृष्टिकोण सचाई को महत्त्व देने का नहीं है। यही कारण है, लोग उस ओर नहीं झुकते। क्योंकि उस मार्ग में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अणुव्रती एक प्रामाणिक मनुष्य है, उसके आचरणों का सर्वसाधारण अनुकरण कर सकते

हैं। अतः उनकी प्रवृत्ति हेय नहीं होनी चाहिये। सुविधा और दुविधा वर्तमान क्षणों से नहीं देखी जानी चाहिये किन्तु उसका सम्बन्ध भविष्य से समझना चाहिये। अणु-व्रतियों के उक्त अनुभव अयथार्थ नहीं हो सकते। उस परिभाषा के कारण उन्हें समय-समय पर अनेक उलझनों का सामना करना पड़ता है किन्तु यह कादाचित्क प्रसंग है। इसके लिये आदर्श से नीचे गिरना अणुव्रती के लिये सुन्दर नहीं होगा। कष्ट ही नियमों की कसौटी है। उक्त प्रकार की घटनाओं से ही जन-साधारण का ध्यान सत्य की ओर आकृष्ट होगा।

ब्रह्मचर्य-अणुव्रत

आगमों, त्रिपिटकों और वेदों में ब्रह्मचर्य की यशोगाथा एक ही स्वर में गाई गई है। ब्रह्मचर्य

आर्षवाणी में

जैन, बौद्ध और वैदिक इन तीन धाराओं का संगम स्थल होकर परम पावन त्रिवेणी-तीर्थ बन जाता है। आर्षवाणी में अहिंसा, सत्य आदि के साथ ब्रह्मचर्य का स्वर और ऊँचे से गाया गया है। ब्रह्मचर्य की महत्ता आर्षवाणी में कितनी प्रस्फुटित होती है "जिस तरह ग्रह, नक्षत्र और तारायों में चन्द्रमा प्रधान है, उसी प्रकार विनय, शील, तप, नियम आदि इन समूहों में ब्रह्मचर्य प्रधान[1] है।" "जिसने एक ब्रह्मचर्य व्रत की आराधना करली, समझना चाहिये उसने सर्वव्रत, शील, तप, विनय, संयम, शान्ति, समिति, गुप्ति—यहाँ तक की मुक्ति तक की आराधना करली[2] है।" जैन परम्परा के उक्त अभिमत को

१—विणयशीलतवनियमगुणसमूहं तं बंभं भगवंतं।
गहगणनक्खत्ततारगाणं वा जहा उडुपत्ती।
—प्रश्न व्याकरण २—४

२—ऐवमणेगा गुणा अहीणा भवन्ति एक्कंमि बंसचेरे।
इहलोइय पारलोइय जसे य कित्तीय पंचओय।
जम्मि आराहियम्मि आराहियंवयमिणं सव्वं।
सीलं तवोयविणओ संजमो खंती गुत्ती मुत्ती तहेव।
—प्रश्न व्याकरण २—४

वैदिक ऋषियों ने गाया—"ब्रह्मचर्य रूप तप से देवों ने मृत्यु पर विजय पाई है।"[1] बौद्ध संस्कृति में कहा गया—"तू अपने चित्त को काम-गुणों में आसक्त मत कर।"[2] इस प्रकार आर्षवाणी में केवल ब्रह्मचर्य की यशोगाथा ही नहीं गाई गई अपितु इसकी साधना का मार्ग भी विविध पर्यालोचनों के साथ बतलाया गया। एक ब्रह्मचारी के लिये शृंगार-विरति, रूप-दर्शन-विरति, अति-भोजन-विरति, रस-विरति, स्मरण-विरति भी किस प्रकार आवश्यक है उसका वहाँ अत्यन्त मनोवैज्ञानिक विश्लेषण मिलता है।

पूर्व और पश्चिम में चिन्तन-भेद

पूर्व में ब्रह्मचर्य की आस्था थी और अब भी है। पश्चिम में कभी आस्था नहीं थी, ऐसी बात नहीं है। अब भी आस्था नहीं है, ऐसी बात भी नहीं है पर काम-विज्ञान के कुछ नवीन चिन्तन ऐसे आये हैं जो मनुष्य की चिरकालीन बद्धमूल धारणाओं पर प्रहार करते हैं। वहाँ माना गया है, ब्रह्मचर्य की आस्था ही एक अंध-विश्वास है। अब्रह्मचर्य यह तो एक शरीर-धर्म है। तृषा, बुभुक्षा आदि की तरह यह भी अनिवार्य शारीरिक अपेक्षा है। यह सब आया, इसमें आश्चर्य और खेद नहीं; पर पूर्व और पश्चिम

१—ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।

२—माते कामगुणे रमस्सु चित्तं।

३—उत्तराध्ययन सूत्र १६-१-२ व १६-११

४—दशवैकालिक सूत्र ८। ५४

५—उत्तराध्ययन सूत्र ३२:११, प्रश्न व्याकरण २:४

६—उत्तराध्ययन सूत्र ३२:१०

७—उत्तराध्ययन सूत्र १६:६ सूयगडांग १-२:२७।

की नयी पीढ़ी पर इस विचारधारा का एक व्यापक प्रभाव देखा जाता है, यह अवश्य विचारणीय है। उक्त मतवाद नास्तिक मतवाद के बहुत समीप हो जाता है। "यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्" प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करता है। चूँकि नास्तिक मतवाद का समाज में कोई आदर नहीं, इसलिये इस नवीन विचार-सरणि को लोग अपनी विषय-संस्कारिता के पोषण का साधन मान बैठे हैं। वास्तव में ब्रह्मचर्य के विषय में उक्त प्रकार की धारणायें सच नहीं हैं। एक क्षण के लिये इसे सच भी कहा जाये तो भी यह अत्यन्त असामाजिक है। इस प्रकार के विचारों से आज तक इस विषय को लेकर जो मानव-सभ्यता का विकास हुआ है उस पर एक प्रहार होता है और मनुष्य जिसका कि लक्ष्य देवत्व की ओर बढ़ना है, पशुत्व की ओर अग्रसर होता है।

नवीनतम आधुनिक मनोविज्ञान ने उक्त प्रकार के विषयवादी विचारों को चुनौती दी है। उसका कहना है—विकार एक शारीरिक शक्ति है जिसे यदि मनुष्य वासना-तृप्ति के लिये गमाने से रोक लेता है तो अवश्य वह उस मनुष्य के जीवन में एक दैवी-गुण के रूप में उदय पाती है। संयम के द्वारा वह रोकी हुई शक्ति किसी में शारीरिक वर्चस्व लेकर प्रगट होती है, किसी में प्रभावशाली वक्तृत्व लेकर, किसी में लेखकत्व और किसी में चिन्तनशीलता को लेकर, पर वह प्रगट अवश्य होती है। लगता है, पश्चिम का चिन्तन भी अब पूर्व की ओर मुड़ चला है। पूर्व में भी तो यही माना गया था, वासनाओं के निरोध से मनःशक्ति और कायिक-शक्ति केन्द्रित होती है और जिस दिशा में वह लगेगी व्यक्ति को असाधारण सफलता देगी। इतिहास यह बताता है, विद्या, वीरता, कला आदि विषयों में उत्कृष्टतम सफलता पाने वाले व्यक्तियों में अधिकांश ब्रह्मचारी

थे, वे चाहे जन्म से ब्रह्मचारी थे या अपने ध्येय में लगकर आजीवन ब्रह्मचारी बन गये। अतः ब्रह्मचर्य की साधना लौकिक व पारलौकिक अभ्युदय के लिये अत्यन्त अपेक्षित है।

नीति नहीं, सिद्धान्त

संयम की ही एक अभिधा ब्रह्मचर्य है, संयम आत्मा को स्वाभाविकता की ओर व असंयम वैभाविकता की ओर ले जाता है। ब्रह्मचर्य का पालन आत्म-शुद्धि व आत्म-गुणों के विकास के लिये हो, यही उसका विशुद्ध लक्ष्य है। जहां इसे राजनैतिक व सामाजिक दृष्टियों से आंका जाता है, वहां उसकी गरिमा अखंड नहीं रहती। आज जहां कुछ देशों में जन-संख्या बहुत बढ़ गई है, वहां संतति-निरोध के लिये बल दिया जाता है और अधिक प्रजनन को बुरा बताकर नाना नियंत्रण किये जाते हैं। जो देश जनसंख्या बढ़ाने के कामी हैं, उन देशों में अधिक से अधिक संतति हो, यह प्रचार किया जाता है। जो मातायें सात बच्चों को जन्म देती हैं उन्हें मातृगौरव के पदक से सम्मानित किया जाता है। यह द्वैध नाना भौतिक दृष्टियों को प्रमुखता देने से उत्पन्न हुआ है। यहां संयम व ब्रह्मचर्य जीवन का सिद्धान्त नहीं बनता, एक सामूहिक नीति बनती है। संयम व ब्रह्मचर्य वह आदर्श है जो सब काल व सब देशों में निरपवाद है। जिन देशों में जनसंख्या की वृद्धि के लिये अब्रह्मचर्य अर्थात् भोग-विलास को प्रोत्साहन दिया है, वह नीति के रूप में भी हितकर न होगा। इससे जनता में नाना वृत्तियां जाग उठेंगी पर इसका निर्णय तो भविष्य में होने वाला है। जिन देशों में संतति-निरोध के लिये ब्रह्मचर्य या संयम की बात कही जाती है, वह भी अयथार्थ है। क्योंकि संतति-निरोध के उद्देश्य से ही यदि ब्रह्मचर्य आवश्यक माना जाता है तो उस देश में

कभी संतान-वृद्धि के लिये अब्रह्मचर्य आवश्यक माना जाये, यह निश्चित है। अतः ब्रह्मचर्य व संयम को आत्मिक विकास का हेतु मानकर चला जाये, यही श्रेयस्कर है। ब्रह्मचर्य और संयम के विकास में यह प्रजनन आदि की समस्यायें तो स्वयं हल होंगी। अनाज व खाद्य-सामग्री की कमी में कुछ वर्ष पूर्व जब 'व्रत करो' यह आन्दोलन चला तब महात्मा गांधी ने कहा था—व्रत का उद्देश्य आत्म-शुद्धि होना चाहिये, अन्न तो स्वयं बचने वाला है ही। यदि हम अन्न के अभाव में उसकी पूर्ति के लिये "व्रत करो" आन्दोलन करते हैं तो अन्न की बहुलता में कभी "खूब खाओ" का भी आन्दोलन करना पड़े। अतः आध्यात्मिक प्रवृत्तियों का उद्देश्य आध्यात्मिक ही रहे, यही प्रशस्त है।

संतति-निरोध में कृत्रिम साधनों की हेयता

आज के संसार की बढ़ती हुई जनसंख्या ने गणित शास्त्रियों को चिन्तित कर दिया है। प्राप्त आंकड़ों के अनुसार सन् १९५३ से सन् १९५७ तक प्रतिदिन ५०,०००, प्रति मास बीस लाख एवं समग्र वर्ष में लगभग अढाई करोड़ मनुष्य बढ़े हैं। ये आंकड़े मृत्यु-संख्या को बाद देकर केवल वृद्धि-संख्या के हैं। बड़े-बड़े समाज-शास्त्रियों का कहना है—जन-संख्या की वृद्धि इसी प्रकार होती रही तो कुछ ही वर्षों बाद नाना भयंकर समस्यायें उत्पन्न हो जायेगी। भारतवर्ष के कर्णधार भी इस समस्या को लेकर अपने देश के लिये चिन्तित हैं। समुद्रों-पार से मनुष्य बुलाये जाते हैं और संतति-निरोध के विषय में मार्ग खोजा जाता है। यह एक आश्चर्य और खेद की भी बात है कि भारतवासी आत्म-संयम की बात को भूलकर अब संतति-निरोध के कृत्रिम साधन पाश्चात्य लोगों से उधार लेना चाहते हैं। आज जनता को सिखाया जाने लगा है

संतति-निरोध के कृत्रिम साधनों में कोई हानि नहीं है और धीरे-धीरे जनता भी इस ओर बढ़ने लगी है। क्या यह अप्राकृतिक आचरण नहीं है? क्या यह मानव-संस्कृति व सभ्यता की ऊँची बात है? महिलायें भी संतति-निरोध के लिये डाक्टरों से आपरेशन करवाकर गर्भस्थली निकलवा लेती हैं। तथाप्रकार के और भी विविध कृत्रिम प्रयत्न आज समाज में बढ़ते आ रहे हैं। इसका अर्थ क्या यह नहीं होता कि मनुष्य अपना भोग-विलास बढ़ाने में मशगूल है, और कोई प्राणी उन भोग-विलासों में हिस्सा बटाने के लिये पृथ्वी पर पैदा न हो इसलिये वह कृत संकल्प है? ऐसी प्रवृत्तियां देश के लिये हितकर नहीं हैं, इससे जनता का शौर्य घटेगा और कलंक बढ़ेगा।

आज आवश्यकता है—भूली हुई जनता को फिर से आत्म-संयम की बात सिखलायी जाये। उससे उसकी आत्मिक शक्तियों का विकास होगा और लोकोत्तर अभ्युदय को वह प्राप्त कर सकेगी। आत्म-संयम के अतिरिक्त संतति-निरोध के लिये कोई भी सभ्य एवं सुसंस्कृत उपाय नहीं है।

कुछ लोग कहते हैं—वास्तविक जीवन में रहने वाले सर्वथा ब्रह्मचारी तो बन नहीं सकते और केवल दिनों के नियंत्रण में संतति-निरोध की समस्या का कोई हल नहीं निकलता। ऐसे लोगों ने आत्म-संयम एवं ब्रह्मचर्य की विभिन्न मर्यादा को समझा नहीं है। आत्म-संयम की मर्यादा केवल यहीं तक समाप्त नहीं है कि मैं एक मास में इतने दिन ब्रह्मचर्य का पालन करूँगा किन्तु उसके आगे भी उसके नाना रूप हैं। आत्म-संयम की ओर बढ़ने वाला व्यक्ति यह भी प्रतिज्ञा कर सकता है कि इतनी संतान होने के बाद मैं आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन

करूँगा या एक एक सन्तान के बाद इतने वर्ष में ब्रह्मचर्य का पालन करूँगा। अस्तु; यही एक मात्र मार्ग है जिससे मनुष्य प्रकृति-विरुद्ध आचरणों से बचता है, संयम का विकास बढ़ता है और वह प्रजनन की समस्या से मुक्त होता है।

स्वदार-सन्तोष-व्रत

जब मनुष्य को भोगों में शान्ति नहीं मिली तब उसने समझा "भोगा न भुक्ता वय मेव भुक्ता:" भोग समाप्त नहीं हुये, हमारा जीवन समाप्त हो गया। इस प्रकार भोग की अवास्तविकता से संयम आया। उसकी नाना मर्यादायें बनीं। मनुष्य पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करे, यह पहली मर्यादा थी, पर यह सर्वसाधारण के लिये अशक्य हुई, तो स्वदार-संतोष-व्रत का आविर्भाव हुआ। पूर्ण संयम नहीं तो यहाँ तक संयम हो पर हो अवश्य। मनुष्य पशु की तरह अनियन्त्रित हो न रहे, इस आधार पर दाम्पत्तिक व्यवस्था पैदा हुई। पतिव्रत व पत्नीव्रत धर्म समाज-व्यवस्था का एक अंग माना गया। परस्त्री-गमन व वेश्यागमन सामाजिक व धार्मिक सब दृष्टियों से हेय माना गया। भारतीय-संस्कृति में स्वदार-सन्तोष-व्रत की अक्षुण्ण महिमा मिलती है। रामायण आदि बड़े-बड़े ग्रन्थ, बड़े-बड़े पौराणिक कथानक इसी पतिव्रत-धर्म को संस्कारित करने वाले हैं। प्राचीनकाल में पतिव्रत-धर्म को कितना सामाजिक महत्त्व मिला था यह राम और सीता के चरित्र से ही व्यक्त हो जाता है। लंका-विजय कर राम घर आये। सीता के लिये अपवाद उठा। जन-जन में चर्चा फैल गई। राम ने जिस सीता के लिये समुद्र पार कर रावण से लोहा लिया, अनगिनत आदमी मरे उसकी परवाह न की; उसी सीता को यह मान

कर कि स्यात् वह अपने पतिव्रत-धर्म से स्खलित हुई हो, घर से निकाल दिया। इसका तात्पर्य यह नहीं कि राम का वह काम विचारपूर्वक था, पर इस सारी घटना से यह समझा जा सकता है कि पतिव्रत-धर्म की मर्यादा का उस काल में कितना ऊँचा महत्त्व माना हुआ था। जिसके सन्देह में अयोध्या की जनता ने अपने महाराजा की महारानी मात सीता को मान्यता नहीं दी और राम ने उसको सब कुछ जानते हुये भी एक क्षण में सारा मोह तोड़ डाला। अतः—स्वदार-सन्तोष-व्रत भारतीय धर्मों का तथा भारतीय समाज-व्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण पहलू रहा है। अणुव्रती के लिये उसका आचरण अनिवार्य है। अणुव्रती यदि महिला है तो उसके लिये इसी प्रकार से "पतिव्रत धर्म" अनिवार्य अपेक्षित है।

विवाह-मुक्ति

आज नये विचारों के उद्गम में से एक ऐसा भी विचार सामने आ रहा है, जो दाम्पत्तिक व्यवस्था को हटाकर स्त्री और पुरुष दोनों को इस विषय में मुक्त कर देना चाहता है। इसके पीछे तर्क है, बहुत प्राचीनकाल में भी ऐसी कठोर दाम्पत्तिक व्यवस्था नहीं थी। पहले तो यह भी निर्विवाद नहीं है कि पहले दाम्पत्तिक जीवन की इतनी सुदृढ़ व्यवस्था नहीं थी, यदि एक क्षण के लिये ऐसा माना भी जाये तो यह निर्विवाद मान लेना होगा—धीरे-धीरे मनुष्य में संयम व सभ्यता का विकास हुआ तब उक्त व्यवस्था को बल मिला। ऐसी स्थिति में क्या यह अभीष्ट है कि मनुष्य संयम व सभ्यता की अविकसित अवस्था तक फिर जाये? कहा जाता है विवाह एक बन्धन है। स्वतन्त्रता के युग में विवाह-मुक्ति बन्धन-मुक्ति है। विवाह बन्धन है यह ठीक है। चूँकि-महर्षियों

ने इसे बन्धन माना है पर इससे मुक्त रहने वालों के लिये ब्रह्मचर्याश्रम का विधान किया है। आज जो लोग कहते हैं, विवाह बन्धन है, इससे हमें मुक्त रहना है। वे मुक्त रह कर कौनसे आश्रम में जायेंगे? यही जरा चिन्ता का विषय है।

स्वदार-सन्तोष के अभाव में परस्त्रीगमन व वेश्या-गमन को बढ़ावा मिलता है। समाज में ये दो घातक बुराइयां हैं। इस विषय में कोई बहुत बड़ा मत-भेद नहीं है पर सुधार का कोई सुदृढ़ मार्ग अभी प्रस्तुत नहीं हो रहा है। परस्त्रीगमन यह अवैध व प्रच्छन्न भ्रष्टाचार है पर वेश्याओं को तो लाइसेन्स भी दिये जाते हैं। यह एक प्रकार का व्यवसाय है। इसे समाप्त करने के नाना अहिंसात्मक प्रकार मिल भी सकते हैं। विकासोन्मुख समाज में वेश्या-वृत्ति का होना एक लज्जा की बात है। कानून वेश्या-वृत्ति के विरोध में अब तक सफल नहीं हुआ है। हृदय-परिवर्तन का मार्ग ही इस विषय में प्रशस्त है, पर वेश्या-वृत्ति को आमूल समाप्त करने में यह आवश्यक होता है। उन कारणों का पता चलाया जाये कि कोई भी स्त्री वेश्या क्यों बनती है और उन कारणों को ही समाज में पैदा न होने दिया जाये।

वेश्या व परस्त्री

वेश्या-नृत्य पूर्वजों से विरासत में मिली एक कुप्रथा है। लोग कहते हैं—वेश्या-नृत्य का विरोध क्यों किया जाता है? प्राचीन काल में भी राजा, महाराजा, सम्राट्, धनीमानी, श्रेष्ठीजन, विवाह आदि के उपलक्ष में व अन्य मांगलिक उत्सवों पर वेश्या-नृत्य को महत्त्व दिया करते थे। राज-दरबारों का तो यह एक प्रमुख अंग ही रहा है। उन लोगों से पूछना चाहिये, यह किसने कब मान लिया कि प्राचीन काल में सब कार्य अच्छे

वेश्या-नृत्य

ही हुआ करते थे व उस समय किसी कुप्रथा का प्रचार नहीं था। बुराई और अच्छाई सब कालों के साथ चलती है। हो सकता है वर्तमान की कुछ कुप्रथाओं को लोग आज कुप्रथा नहीं समझ रहे हैं, आने वाली पीढ़ी समझेगी और उस युग के लोग उस विरासत की निधि को सदा के लिये समाप्त कर देने का प्रयत्न करेंगे। वेश्या-नृत्य का प्रचलन चाहे कब से ही हो, आज तो वह सब प्रकार से हानिप्रद सिद्ध हो रहा है, इसमें कोई विचारक दो मत नहीं हो सकते।

इस वेश्या-नृत्य की कुप्रथा के कारण ही न जाने कितने युवक कुपथगामी होकर अपना सर्वस्व खो बैठते हैं। उपहास का विषय तो यह है, लोग वेश्या को मंगल-सूचक शकुन भी मान बैठे हैं। उनका विश्वास है कि विवाह में अन्यान्य मंगल-कामों की तरह वेश्या-नृत्य भी एक मंगल-कार्य है। किस बुद्धिमान को इस समझ पर तरस नहीं आती होगी। सामाजिक मान्यताओं में भी अन्धविश्वासों का पार नहीं है। विधवा पुत्रवधू व पुत्री जो संयम और साधनापूर्वक अपना जीवन बिताती है, यह तो एक अपशकुन और पतन की पराकाष्ठा पर पहुँची हुई वेश्या शुभशकुन। अणुव्रती इन अन्धविश्वासों तथा कुरूढियों से सर्वथा बचे। वह इस प्रकार के नृत्यों का संयोजन न करे व वेश्या-नृत्य देखने के उद्देश्य से तथाप्रकार के समारोह में भाग न ले।

जो आचरण अप्राकृतिक है वह अमानवीय भी है।

अप्राकृतिक मैथुन

अप्राकृतिक मैथुन का प्रसंग भी ऐसा ही है। किसी दिन यह एक विचार था ऐसे विषयों पर लिखना व बोलना असभ्यता का सूचक है, वहाँ ऐसी बुराइयों से लोगों को बचाने के लिये

कुछ लिखना व बोलना जरूरी ही माना जाने लगा है। बहुधा इस अप्राकृतिक क्रिया से अपरिचित रह कर ही व्यक्ति उसमें फंसता है। यह बीमारी बच्चों से शुरू होकर युवक वृद्धों तक पहुँचती है। इसका कारण होता है कुसंसर्ग और इससे होता है स्वास्थ्य, सौन्दर्य, साहस, ओज आदि सद्‌गुणों का नाश। अणुव्रती स्वयं इस दुराचार से बचे ही। साथ-साथ अपने बालकों को भी कुसंसर्ग से बचाने को जागरूक रहे।

अणुव्रती की निष्ठा ब्रह्मचर्य में है। अब्रह्मचर्य को वह त्याज्य मानता है। दाम्पतिक जीवन में भी अब्रह्मचर्य से ब्रह्मचर्य की ओर बढ़ना उसका ध्येय होता है। एक मास में २० दिन का ब्रह्मचर्य यह उसकी साधना का आदि-चरण है। इससे आगे वह अपनी साधना को बढ़ाता जाये और अपने इस जीवन में पूर्ण ब्रह्मचर्य तक पहुँचने का प्रयत्न करे।

इस विषय में और भी विविध प्रकार से अपनी साधना को बढ़ाने का प्रयत्न होना चाहिये। परस्त्रीगमन उसके लिये निषिद्ध है ही। अतः उसे चक्षु-संयम व वाणी-संयम को भी भूलना नहीं है। वासना की बुद्धि से अन्य स्त्रियों की तरफ झांकना भी एक मानसिक व्यभिचार है। यही बात वाणी के विषय में है। अणुव्रती साधना के क्षेत्र में है, पहले पहल उसे मन पर विजय करनी है। यदि वह मन पर विजय पाने में सफल हुआ तो वाणी व काया पर भी शीघ्र ही विजय पालेगा।

अवयस्क-विवाह

बाल-विवाह जीवन के लिये एक घातक प्रथा है। सभ्य-समाजों में देखते देखते बहुत परिवर्तन आया है। बाल-विवाहों के दुष्परिणामों को समझ समझ कर लोग तत्सम्बन्धी कुसंस्कारों से ऊपर उठते जा रहे हैं, फिर भी अशिक्षित व

रूढ़िमुक्त समाजों में इसका प्रचलन बहुत अवशेष है। राजकीय प्रतिबन्ध भी सामाजिक प्रतिबन्ध के अभाव में असफल हो रहे हैं। अणुव्रती की मर्यादा है—१८ वर्ष की अवस्था तक वो वह ब्रह्मचर्य का पालन करे ही। यह मर्यादा विद्यार्थी अणुव्रतियों के लिये बड़े महत्त्व की है। विद्यार्थी उक्त अवधि से पूर्व विवाह न करे और पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करे। अणुव्रती कन्याओं के लिये १५ वर्ष की ब्रह्मचर्य-मर्यादा है वह उक्त अवधि तक तो ब्रह्मचर्य का पालन करे ही। प्रश्न आता है अणुव्रती बालक, बालिका के मातापिता व अन्य अभिभावक यदि उनका विवाह निर्धारित अवधि से पूर्व करना चाहते हैं तो अणुव्रती बालक व कन्या क्या करे? अणुव्रती का मार्ग कठिनाइयों का तो है ही। आदर्श रूप फूल के साथ विघ्न रूप कांटे होते ही हैं। आदर्शवादी का मार्ग निष्कंटक नहीं होता। अणुव्रती युवक इस विषय में मातापिता से प्रभावित न हो, प्रत्युत अपना आदर्श उन्हें समझाये। यदि वह अपनी निष्ठा को अडिग रख सका तो उसे अपने आदर्श से विचलित करने वाला कोई नहीं है।

अणुव्रती यदि पिता है तो अपने पुत्र व कन्या के विवाह उक्त मर्यादा से पूर्व न करे।

लड़के व लड़कियों के १८ व १५ वर्ष की ब्रह्मचर्य-मर्यादा एक सामान्य मानदण्ड है। प्राचीन काल में ब्रह्मचर्याश्रम की २५ वर्ष की मर्यादा होती थी। उसे देखते यह बहुत कम है। अतः इस मर्यादा को जीवन-व्यवहार में जितना लम्बाया जा सके, हितकर होगा। विद्यार्थी-जीवन १८ वर्ष तक समाप्त नहीं हो जाता। विद्यार्थी रहते विवाह का बन्धन ध्येय में बाधा है। बहुत थोड़े विद्यार्थी ही विवाहित जीवन के साथ

व्यवस्थित अध्ययन चला सकते होंगे। दूसरी बात व्यक्ति अध्ययन समाप्त कर आजीविका आदि को लेकर अपने पैरों पर खड़ा नहीं होता और लड़के लड़कियों के रूप में इसका परिवार बढ़ जाता है। इस बड़े दायित्व को उसे अध्ययन छोड़कर या समाप्त कर एक साथ उठाना पड़ता है। उसका जीवन-विकास रुक जाता है और वह जीवन भर के लिये उस भार से दबा ही चलता है। वह सौ-पचास रुपये कमाता है पर दो सौ रुपये मासिक के बिना उसका खर्च पूरा नहीं पड़ता। यह स्थिति उसके साहस को नष्ट कर देती है और उसे कभी उभरने नहीं देती। वह सदा निस्तेज जीवन बिताता है। इसके बदले जो विद्यार्थी अपनी ब्रह्मचर्य-साधना में ही आत्म-निर्भर हो जाता है, वह अपने विवाहित जीवन की गाड़ी को भी आसानी से चला लेता है।

वृद्ध-विवाह

वृद्ध-विवाह सब प्रकार से वर्जनीय है। आवश्यकता तो यह है सपत्नीक अणुव्रती भी ४५-५० वर्ष के पश्चात् पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करे। उक्त उम्र में यदि स्त्री की मृत्यु हो जाती है तब तो उसे पूर्ण ब्रह्मचारी होकर रहना ही है। वृद्ध-विवाह राजकीय कानून से वर्जनीय है और एक सामाजिक अभिशाप है। वृद्ध-विवाह की बुराइयों का कोई पार नहीं है। जब घर में पहली पत्नी के बच्चे हैं, वृद्धावस्था में दूसरी पत्नी आ जाती है और उसके भी अपने बच्चे हो जाते हैं, उस स्थिति में पारिवारिक जीवन की जो दुर्गति होती है वह लेखिनी का विषय नहीं हो सकती। वृद्ध-विवाह एक महापाप इसलिये है कि एक वृद्ध अपने चन्द दिनों के आनन्द के लिये एक बालिका के समग्र जीवन को अभिशप्त कर देता है।

वृद्ध-विवाहितों की मृत्यु के पश्चात् दुखी विधवाओं का जीवन किस ओर जायेगा, यह सोचना बड़ा दुष्कर होता है। उनके जीवन के दो मार्ग तो स्पष्ट हैं ही, या तो वे लोक-लाज से अपनी इच्छाओं एवं लालसा-भावनाओं को दबाकर उन्माद की अभिवृद्धि करती रहती हैं या गुप्त व्यभिचारों के सेवन पर चली जाती हैं। तीसरी स्थिति है—वे अपने वैधव्य को प्रकृति की देन समझकर, दूसरा जीवन का सन्तोष अंगीकार कर, निर्लेप जीवन बिताती हैं, ये सारी ही अवस्थायें समाज को नीचे की ओर ले जाने वाली ही हैं।

कानून की प्रतिबन्ध और समाज सुधारकों की कड़ी चेतावनियों के विरुद्ध भी यत्र-तत्र वृद्ध-विवाह होते ही रहते हैं। बहुत बार वृद्धों की ऐसे सम्बन्धों से दुर्गति भी होती है। कुछ समाज-सुधारकों के समक्ष प्रसंग से विवाह-स्थल पर पहुँचकर और लौट आते हैं। इस वृद्ध-विवाह की फिराक में हजारों, ठगों के चक्कर में आ जाते हैं। सुना जाता है—रुपये ऐंठने वाले ठगोरे लोग उन वृद्धों को कभी-कभी लड़की के बदले लड़के को ब्याह देते हैं। इस प्रकार वृद्ध-विवाहों की आये दिन भर्त्सना होती रहती है। अणुव्रती का एक सुधार यह है। वह स्वयं ५५ वर्ष की आयु के बाद विवाह नहीं करे और ऐसे विवाहों के लिये सम्मतिदाता व आयोजक भी न बने।

अपरिग्रह-अणुव्रत

परिग्रह क्या है? भूमि, धन या भोग-विलास के अन्य साधन-प्रसाधन परिग्रह हैं? नहीं,

परिग्रह क्या है?

परिग्रह जड़-पदार्थ नहीं, वह व्यक्ति की आसक्ति है। संसार में असंख्य पार्थिव पदार्थ हैं जिन पर किसी का ममत्व नहीं, वे किसी के परिग्रहभूत नहीं हैं। परिग्रहवाद से होने वाली समस्याओं को आज व्यवस्था-भेद से मिटाने का प्रयास किया जा रहा है। उसे नवीन अर्थ-व्यवस्था कहते हैं। वहाँ यह भुला दिया जाता है कि अर्थवाद का मूल आसक्ति में है न कि अर्थ में। व्यवस्था आसक्ति की उद्दीप्ति व अनुद्दीप्ति का एक हेतु हो सकती है पर वही सब कुछ नहीं। दूसरी ओर व्यवस्था की उपेक्षा कर केवल अनासक्ति पर बल दिया जाता है वह भी एकान्तवाद है। समाज के साथ चलने वाला व्यक्ति सामाजिक व्यवस्था से प्रभावित न हो यह एक दुःस्वप्न है। अर्थवाद के अनर्थों से परे किसी भी समाज-रचना की सफलता में व्यवस्था और अनासक्ति अपेक्षित है ही।

कहा जाता है बहुत पहले श्रम प्रधान युग था। उस समय परिवार के सब लोग मिल जुलकर

साध्य नहीं साधन

जीवन-व्यवहार के आवश्यक पदार्थ पैदा करते थे। कुछ आदमी एक काम करते थे तो परिवार के दूसरे आदमी दूसरा काम। एक

परिवार के मनुष्यों में आवश्यक परिश्रम के बटवारे का ढंग था। यहीं से विनिमय शुरू होता है। एक व्यक्ति एक प्रकार का श्रम करता था। ऐसा श्रम दूसरों को नहीं करना पड़ता, दूसरे व्यक्ति उसके लिये दूसरी वस्तुयें पैदा करते। इससे पारिवारिक व्यवस्था चलती थी। विभिन्न परिवारों के बीच में विनिमय की आवश्यकता बचे हुये पदार्थों के रूप में ही होती थी। तात्पर्य यह हुआ—आवश्यकता प्रधान थी, विनिमय गौण। किन्तु धीरे-धीरे उत्पादन-काल में ही लोग विनिमय के लाभ को सोचकर अधिक उत्पादन करने का प्रयत्न करने लगे। बहुत से परिवारों में पशु-पालन का भी प्रचलन था। वे प्रायः भेड़, बकरी और गायों के विनिमय से ही अपनी आवश्यकतायें पूरी करते थे। वहां विनिमय आगे बढ़ा, नाना परिवारों की तरह गांवों, शहरों, प्रान्तों व देशों में होने लगा। आवश्यकतायें बढ़ने लगीं इसलिये अनावश्यक उत्पादन होने लगा और उस उत्पादन का ध्येय विनिमय अर्थात् व्यवसाय बन गया। विनिमय बहुमुखी होकर अत्यन्त जटिल होने लगा। गेहूँ की बोरी का दाम दो बकरी, एक बोरी चोंड़ का दाम एक भेड़, जूते की जोड़ी का दाम पांच सेर फल, यह व्यवस्था कितने दिन चल सकती थी? मुद्रा का उदय हुआ। सारे विनिमय का सूत्रधार अब मुद्रा हो गई। अब दो बकरी खरीदने के लिये एक बोरी गेहूँ कंधे पर उठाकर नहीं ले जाना पड़ता। सुगमता यहाँ तक हो गई कि जेब में एक पैसा न होने पर भी व्यक्ति लाखों करोड़ों का व्यापार करता है।

मनुष्य ने अर्थ को एक साधन के रूप में अपनाया पर आज तो वह स्वयं साध्य होकर उसके सिर पर चढ़ बैठा है। आज सारी मानवता अर्थवाद के चक्कर में कुण्ठित है। यही

अर्थ साम्यवाद, समाजवाद, सर्वोदयवाद के उद्‌गम का हेतु बना है। अर्थ-व्यवस्था का विचार आज मनुष्य का मूलभूत प्रश्न बन गया है। बड़े-बड़े विश्व-युद्ध उन्हीं विचारों के संघटन और विघटन की पृष्ठभूमि पर हो चुके हैं। सामाजिक जीवन में तो अर्थ का प्रभुत्व और भी शिखर पर आ पहुँचा है। मानव परमेश्वर को भूल कर पैसे के पीछे पड़ा है। क्योंकि समाज में वही तो उसको परखने का मानदण्ड है न? एक ओर उद्दाम अट्टालिकायें और एक ओर कुश की झोंपड़ियां, एक ओर खाने के लिये विविध पकवान और एक ओर दाने-दाने के लिये भूखमरी। अस्तु—विश्व की अशेष विषमतायें और अव्यवस्थायें इस अर्थवाद की सत्ताहृढ़ता का परिणाम है। इसीलिये तो किसी कविचेता मानस की आह निकल पड़ी है :—

अर्थ के उत्तुंग शिखरों से चली यह धार।
उगलती शतशः अनर्थों के विकट उद्‌गार॥
टूक मानवता हुई जो थी इकाई रूप।
शैल धन के हो गये और दीनता के कूप॥
एक नर दुर्बल हुआ और एक दैत्याकार।
अर्थ के उत्तुंग शिखरों से चली यह धार॥

अस्तु—जिस मनुष्य ने अर्थ को पैदा किया, उसी मनुष्य को वह खाने दौड़ता है। मनुष्य अपना बचाव कैसे करे, इस विषय को जब हम सोचते हैं तो अनायास ही 'पुनर्मूषिको भव' का पौराणिक आख्यान सामने आ जाता है। किसी जंगल में एक महायोगी रहता था। एक दिन एक मूषिक (चूहा) दौड़ता हुआ उसके पैरों में आया। योगी ने देखा पीछे से एक बिल्ली उसे खाने को दौड़ी चली आ रही है। यह देखकर योगी ने चूहे के प्रति कहा—"मार्जारो भव" अर्थात् तू भी मार्जार (बिलाव)

हो जा। ऐसा ही हुआ। बिल्ली हुए देखकर भाग गई। किसी दिन कुत्ता मार्जार पर झपटा तब योगी ने कहा—"त्वमपि श्वा भव" अर्थात् तू भी कुत्ता हो जा। जब एक दिन व्याघ्र कुत्ते पर आया तब योगी ने कहा—"त्वमपि व्याघ्रो भव" जब सिंह आया तब योगी ने कहा—"त्वमपि सिंहो भव" चूहा सिंह हो गया, सिंह चला गया। भूखा सिंह खाने के लिये इधर उधर देखने लगा। उसी योगी पर दृष्टि पड़ी, खाने के लिये उस पर छलांग भरता आया। योगी ने कहा—दुरात्मन! मैंने तुझे मूषिक से सिंह बनाया अब मुझे ही खाना चाहता है ?— "पुनर्मूषिको भव" चूहा सिंह से पुनः चूहा हो गया। यही स्थिति अर्थ की है। मनुष्य ने विनिमय-सुगमता के लिये रुपये को जन्म दिया और वही रुपया आज उसकी सारी मानवता को निगलने जा रहा है। निगल ही जायेगा यदि किसी महर्षि मानव ने अपनी सुप्त शक्तियों को उद्बुद्ध कर उसे "पुनर्मूषिको भव" का आशीर्वाद नहीं दे दिया तो''''।

अर्थ क्या है ? मनुष्य के द्वारा मान्यता प्राप्त एक जड़ तत्त्व। वह मान्यता सोने को मिली, चांदी को मिली, चमड़े को मिली, कागज को मिली। महत्त्व सोने, चांदी, चमड़े व कागज का नहीं, उसको दी गई मान्यता का है। यदि मनुष्य लोहे को उतना ही महत्त्व दे जितना सोने को तो लोहा सोना हो जाता है और सोने को उतना ही महत्त्व दे जितना मिट्टी को तो सोना मिट्टी बन जाता है।

प्रश्न रहता है मनुष्य इस अर्थवाद के चक्कर से छुटकारा कैसे पाये ? आज वह विनिमय तथा व्यवसाय का साधन नहीं, वह स्वयं व्यवसाय बन गया है। पैसे से पैसा पैदा होता है। श्रम से उसका सम्बन्ध टूट गया है। श्रम करने

वाले साधनहीन रहते हैं। जिसके पास पैसा है चाहे वह सात पीढ़ी पहले किसी पूर्वज ने कमाया है। पैसे से पैसा कमाया जाता है। भोगोपभोग के सारे साधन पैसे से सुलभ हैं। यह सम्भव नहीं कि अर्थ-मुक्ति व कांचन-मुक्ति के लिये आज का मनुष्य पुनः उस वस्तु-विनिमय के युग में जाना पसन्द करे। ऐसी स्थिति में व्यवहार्य मार्ग यही रह जाता है—विनिमय-साधन से अधिक जो अर्थ की महत्ता समाज में बन गई है और वह जो सारे समाज-व्यवहार का राजा बन गया है उसे उस राजा पद से विदा दी जाये।

उद्देश्य एक, वाद अनेक

अर्थ को सत्तारूढ़ स्थिति से स्खलित करने के लिये आज उस पर चतुर्मुखी आक्रमण है। शोषण मिटे, विषमता मिटे और मनुष्य-मनुष्य के बीच एक व्यापक प्रेम की सृष्टि हो, इस लक्ष्य की ओर चलने के लिये नाना वाद चल पड़े हैं। वे सब वाद प्रवाद हैं। उन सब में स्व की श्रेष्ठता का आग्रह है। अतः मनुष्य के लिये नाना आह्वान बन गये हैं। चौराहे पर खड़ा आज का मानव वादों के तुमुल में बधिर होता जा रहा है। वह किधर चले? चारों ओर का एक साथ होने वाला आकर्षण उसकी गति को कुण्ठित कर रहा है फिर भी उसे चलना है। अन्धकार में किसी नक्षत्र का आलोक खोजना है।

आज एक ओर विघटनवाद के नगाड़े बज रहे हैं। ध्वंस के आवरण में एक नई सृष्टि के निर्माण का स्वप्न देखा जा रहा है। अबुद्ध मानव को बताया जा रहा है—"संघर्ष करो, संघर्ष सृष्टि का अविच्छिन्न नियम है।" जड़ का संघर्षजन्य गुणात्मक परिवर्तन ही चेतना (आत्मा) का आविर्भावक है।

जड़ के अन्तिम विकसित परिणाम से अधिक चेतना कुछ नहीं। संघर्ष से निष्पन्न यह मानव सामाजिक संघर्षों से स्वाधीन रह सकेगा। समस्याओं की धुरी अर्थवाद है। उसका उच्छेद सत्ता से सम्भव है और सत्ता का निग्रह हिंसात्मक वर्ग-विग्रह से। सत्ता का उपयोग नियन्त्रण और विरोधी विचार के उन्मूलन में करो। भूमि, अर्थ, उत्पादन के अशेष साधनों के बेमेल विचारों पर शाश्वत अंकुश रखो। हर व्यक्ति से मनचाहा श्रम लो, उसे समाज-यन्त्र का एक पुर्जा बना डालो, तभी इस समाज-यन्त्र में सर्वांगीणता पैदा होगी और वह वास्तव में चलता रहेगा।"

"अपनी लक्ष्य-सिद्धि के लिये हिंसा और अहिंसा, सत्य और असत्य तथा बुराई और भलाई में कोई भेद-रेखा मत खींचो। उद्देश्य के लिये व्यवहृत हिंसा से यदि रक्त की नदियां बह जायें, मानव-मेदिनी कांप उठे और चारों ओर आतंक छा जाये तो समझो उत्क्रान्ति के आसार सामने आये हैं। यह हिंसा के उन्मूलन के लिये और अहिंसा के प्रतिष्ठापन के लिये है। हिंसा के द्वारा हिंसा के कारण दूर होंगे और तब अहिंसा स्वयं अधिष्ठित होगी—न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी।"

आज यह नियन्त्रणवाद बताता है—विश्वास रखो जब उक्त विचार चरितार्थ होंगे तभी झोंपड़ी और महल, धनी और निर्धन में तथा मजदूर और मालिक में अवस्थित विषमता का अन्त होगा।"

इधर से जरा उधर ध्यान देते ही मनुष्य सुनता है—"आर्थिक विषमता का शमन आवश्यक है और सामुदायिक व्यवस्था ही उसका एक मात्र हल है। नियंत्रित जन-समूह

का नाम ही समाज है। एक के लिये सब और सबके लिये एक, यही समष्टिवाद का मूल मंत्र है। उसके लिये विषमता का अपनयन और एकता का उन्नयन हिंसा, बर्बरता और रक्त-क्रान्ति के आधार पर सोचना एक अन्तः स्थित पाशविक वृत्ति का परिणाम है।"

रोटी और कपड़े का प्रश्न एक ओर समाजीकरण से तोला जाता है तो दूसरी ओर साधन सम्पन्नता ही उसका एक मात्र हल माना जा रहा है। उत्पादन के साधन बढ़ाओ, देश को सब प्रकार से सम्पन्न बनाओ, देश में एक भी आदमी बेकार नहीं रहेगा, न भूखा। यह वाद आवश्यकता और आविष्कार दोनों को बढ़ाने की नीति का पोषक है।

अणुव्रत-आन्दोलन की दृष्टि है—सृष्टि का सहज नियम संघर्ष नहीं, प्रेम है। संघर्ष मानवीय सम्बन्धों के लिये कैंची है और प्रेम सुई। चैतन्य गुणात्मक परिवर्तन का परिणाम नहीं, वह सृष्टि का एक शाश्वत धर्म है। पार्थिव नेत्रों से जो दृश्य है, वही सब कुछ नहीं। क्षितिज के उस पार भी मानव का अस्तित्व है, वही मार्ग प्रशस्त है जिससे जीवन के उभय पक्ष सदा आलोकित होंगे।

रोग की जड़ अर्थ नहीं किन्तु अर्थ में निहित निष्ठा है जो केवल भावना-सापेक्ष है। अर्थ और तत्सम्बन्धी पदार्थों के नियन्त्रण में भावना का नियन्त्रण नहीं होता। अर्थ-नियन्त्रण विषमता का स्थायी समाधान नहीं है। आम खाने से जो व्यक्ति रोगी है उसके हाथों से आमों को छीन लेना एक बात है और समझा बुझाकर आम खाने से उसके हृदय में ग्लानि पैदा कर देना दूसरी। पहली अवस्था में रोगी की आत्मा

तड़फती रहती है, वह आम खाने के अवसर खोजता है और अवसर पाते ही नियन्ता की आंख में धूल झोंक देता है। दूसरे प्रयोग में व्यक्ति स्वयं प्रबुद्ध होता है। वह सुधार एवं विवेक की आधारशिला पर होता है। अतः उसमें स्वाभाविकता और स्थिरता रहती है।

वर्ग-विग्रह के द्वारा वर्ग-समाप्ति की बात भी कम असनोवैज्ञानिक नहीं है। वह अपूर्ण और अमानवीय ही नहीं, वह वर्ग-विहीन समाज-रचना में सफल हो सकेगी, ऐसा नहीं लगता। पूंजीपतियों को नाश शेष कर या उन्हें संत्रस्त कर अधिकार में लाने और राजा को धन-धाम भेजकर या पदच्युत कर उसके स्थान पर किसी व्यक्ति को दूसरा नाम देकर गद्दी पर बैठाना, दोनों को ही यदि अन्तिम परिणाम की दृष्टि से देखें तो शासन-सूत्र के संचालन में परिवर्तन के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। हो सकता है एक वर्ग की विवश सहानुभूति से एक बार ऐसा लगे कि वर्गीय चेतना समाप्त हो गई है किन्तु किसी भी विचारक का हृदय इस बात की साक्षी नहीं दे सकता। जो वर्ग पाशविक पंजे से नोचा गया, खसोटा गया और तेजो-विहीन किया गया वह विजयी वर्ग की अधीनता स्वीकार तो कर लेता है लेकिन समय आने पर उसका पराभव किसी अप्रत्याशित विस्फोट का रूप धारण कर सकता है।

यह तो स्पष्ट ही है कि पराजित वर्ग में विजयी वर्ग के प्रति सौहार्द नहीं होता पर विजयी वर्ग, जिसको केवल प्रतिपक्ष के प्रति अपने हृदय में और समाज में घृणा, द्वेष और ग्लानि को उभार कर ही विजय प्राप्त हुई है, विजित वर्ग को

समान अधिकार देकर अपने प्रेम से ओतप्रोत कर ले, यह असम्भव है।

हिंसा के द्वारा हिंसा के उन्मूलन और अहिंसा के प्रतिष्ठान का प्रलोभन प्रत्यक्ष धोखादेही है। स्याही से सना वस्त्र स्याही से धोने की मूढ़ परम्परा अब तक नहीं चली। अब यदि चली तो मनुष्य का यह एक महान् दुर्भाग्य होगा।

आगे यह नवोदित वाद बताता है कि रक्त-क्रान्ति से परे रहने पर भी अति नियन्त्रण की बात विचारणीय है। उसमें भी यह देखना होगा कि मनुष्य की स्वतन्त्रताओं पर तो उससे प्रहार नहीं होता। यह समाज-यंत्र किसी वर्ग विशेष के द्वारा संचालित हो पर स्वाभाविकता तो इसी में है कि यह समाज-यंत्र स्वयं चालित रहे। प्रत्येक व्यक्ति अपने आप इसमें पुर्जा बनकर जुड़ता रहे।

साधन-सम्पन्नता की बात भी इस वाद के साथ कम मेल खाती है, क्योंकि वहाँ साधन साध्य का रूप ले लेता है। यदि रोटी और कपड़े को सुलभता को ही जीवन का साध्य बना दिया जाये तो रोटी और कपड़े के सस्ते सौदे पर मनुष्य को बिक जाना होगा। सुख और शान्ति भौतिक सामग्री जुटाने में नहीं अपितु भौतिक आवश्यकताओं को अल्प कर अन्तःचेतना को जागृत करने में है।

आज मनुष्य गरीब है इसलिये उसके पास इच्छित भोग-सामग्री नहीं है। कल उसे भोग-सामग्री मिल गई पर इच्छायें उतनी ही आगे और बढ़ गई तो सारी जोड़ का परिणाम होगा गरीबी और दरिद्रता क्या है?—इच्छाओं की अतृप्ति।

जिसके पास एक हजार रुपये हैं और वह पाँच हजार में सन्तोष करने की सोचता है। उसके घर में चार हजार की गरीबी है पर पाँच हजार होने पर यदि वह पचास हजार पर सन्तोष लेने की सोचता है तो उसकी गरीबी बढ़कर पैंतालीस हजार की हो जाती है। दुःख और व्याधि भी उतनी ही मात्रा में बढ़ जाते हैं। जब आदमी लालसाओं को करोड़ों और लाखों पर ले जाता है तब तो उसकी गरीबी और कष्टों का पार ही नहीं रहता। प्रश्न रहता है, आढ़्यता फिर कहाँ है ? आढ़्यता न सहस्र में है और न अरब में और न वह भव में है। जीवन का लक्ष्य शान्ति और सुख को प्राप्त करने का होता है। धन भी मनुष्य इसीलिये अर्जित करता है। जितने द्रव्य में शान्ति और सुख का आरम्भ होता है वहाँ उसकी आढ्यता माननी चाहिये। शान्ति और सुख वहाँ से शुरू होता है जहाँ से मनुष्य का सन्तोष व इच्छा-निरोध लालसा के कुविचारों को आगे आने से ललकार देता है। वह सन्तोष सहस्र में भी आरम्भ हो सकता है और लाखों व करोड़ों में भी; और विशेष बात यह है अर्थ के सम्पूर्ण अभाव में भी इसका आरम्भ हो जाता है। इसमें सन्देह नहीं जहाँ से वह सन्तोष आरम्भ होता है वही सुख के उद्गम का केन्द्र बिन्दु है और वहीं से सुख का स्रोत बह निकलता है। सुख की मात्रा में सदा विलोम होता है, अनुलोम नहीं, अर्थात् लालसा जितनी अल्प होगी, सुख की मात्रा उतनी ही अधिक होगी। लाखों और करोड़ों पर विराम लेने की अपेक्षा सहस्रों पर विराम लेने वाला अधिक सुखी होगा तथा अपने पास कुछ भी न रखकर सन्तोष मानने वाला और अधिक सुखी होगा।

लालसावाद

"इच्छाओं को बढ़ाओ, रहन सहन के स्तर (Standard of living) को ऊँचा उठाओ" का लालसावाद आज विश्व के अनुभवों में भी खरा नहीं उतर रहा है। लालसा-वाद के आधार पर भौतिक विज्ञान का विकास हुआ। मनुष्य को अन्न और वस्त्र निष्पादन के निरुपम यान्त्रिक साधन मिले। यातायात को सुगम बनाने के लिये जलयान, वायुयान, वाष्पयान आदि उपहार रूप में उसको मिले। और भी बिजली, पंखा, टेलीफोन, टेलीविजन, रेडियो आदि असीम उपकरण उसे वरदान रूप होकर उपलब्ध हुये। उन साधनों के सामर्थ्य से वह भीमकाय समुद्रों और महासमुद्रों में मछलियों की तरह तैरने लगा, अनन्त आकाश में पक्षियों की तरह उड़ने लगा पर उन भौतिक साधनों में ही निर्द्वन्द्व आनन्द मानने वाला मनुष्य मानवोचित स्वभावों को भी भूल गया। साधन बढ़े, लालसा बढ़ी पर उन साधनों का समान बंटवारा कैसे सम्भव था? उसी का परिणाम हुआ अणुबम और उद्जनबम जैसे प्रलयंकारी अस्त्र मनुष्य ने अपने हाथों घड़े। हिरोशिमा और नागाशाकी में अणु शस्त्रों का पहला प्रयोग हुआ। लाखों मानव एक साथ काल-धर्म को प्राप्त हुये पर लगता है मानवता तो उसमें करोड़ों की ही अस्त हुई। आज भी उन अस्त्रों की विभीषिका वायु-मण्डल के कण-कण पर छाई हुई है। मानव एक क्षण के लिये भी निश्चिन्त नहीं हो रहा है। न जाने कब उन प्रलयंकारी अस्त्रों का विस्फोट कर समानता के नाम पर समस्त मानवता को भी निगल जाये।

आवश्यकताओं का अल्पीकरण

संसार में दिन और रात के प्रसंग की तरह त्याग और भोग का भी एक चक्र चलता है। त्याग में सुस्थिर होकर जब व्यक्ति उकता जाता है तब उसकी वृत्ति भोग की ओर बढ़ती है। वह सोचता है सम्भवतः इससे भी अधिक सुख मुझे वहाँ मिले। भोग की पराकाष्ठा पर पहुँचकर जो उसे निराशा होती है या अणुबम और उद्‌जन बम जैसे भयानक अस्त्र उसे मौत के लिये ललकारते हैं तब वह पुनः त्याग की ओर मुड़ता है। दोनों में प्रथम कौन है, यह कोई प्रश्न की बात नहीं पर शब्द रचना से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि भोग का उत्तर त्याग है। उत्तरांश में आने से त्याग का महत्त्व घटा नहीं किन्तु उसमें और चार चांद लगे हैं। तात्पर्य हुआ भोगों में जब विश्व को शान्ति नहीं मिली तब त्याग का उदय हुआ। इसलिये त्याग उत्तरवर्ती है और मनुष्य के अनुभवों का परिणाम है। आज की परिस्थितियों में भी लालसाओं को बढ़ाने के स्थान पर लालसाओं के अल्पीकरण की बात संसार के किसी कोने में गूँज उठी है। यह निर्विवाद है कि इच्छा-पूर्वक आवश्यकताओं को अल्प करता हुआ व्यक्ति हमेशा सुख की ही ओर बढ़ता है। किन्तु आज मनुष्य का जीवन व्यष्टिपरक न होकर समष्टिपरक है। प्रश्न रहता है उस समष्टि से शोषण, विषमता आदि कैसे मिटें? क्या इस समष्टि को तोड़कर मनुष्य को व्यष्टि की तरफ बढ़ना श्रेयस्कर है? जहाँ एक विश्व, एक देश, एक समाज, एक परिवार आदि इकाइयाँ टूट कर एक मनुष्य यही शेष रह जाता है। समष्टि व्यष्टि में जब परिणत हो जाती है, शोषण, विषमता, अन्याय,

परतन्त्रता आदि अपने आप लुप्त हो जाते हैं पर ऐसा कोई भी समाज-शास्त्री नहीं चाहेगा। वह अव्यवहार्य भी है और मानव के स्वाभाविक विकास में विलोम भी। मानव-जाति का सहज प्रवाह अब तक व्यष्टि से समष्टि की ओर बढ़ता आ रहा है। एक परिवार से वह एक विश्व के निर्माण पर पहुँचने के लिये कटिबद्ध है।

आवश्यकताओं के अल्पीकरण का एक रूप यह भी सामने आ रहा है। मनुष्य को यंत्रवत् बनाने वाले यांत्रिक युग से पीछे हटो। यांत्रिक साधनों एवं प्रसाधनों के कारण ही शोषण बढ़ा है। किसान रुई पैदा करता है किन्तु वही रुई मिल में जाकर धोती जोड़ा बनती है, वही धोती जोड़ा सेल-एजेन्टों के हाथ से निकल कर जहाँ तक उसी ग्रामीण तक पहुँचता है वहाँ तक मुनाफा चढ़ते-चढ़ते इतना भारी हो जाता है कि किसान की आमदनी को देखते हुये मिल में बनी हुई वस्तुओं का उपयोग उसे हमेशा के लिये कर्जदार ही रखता है। इसलिये आवश्यकताओं के अल्पीकरण का वह मार्ग सर्वसाधारण को इस ओर प्रेरित करता है। मिल से तुम चरखे पर चले आओ। मोटर, हवाई जहाज, रेल गाड़ियों को छोड़ कर यातायात के लिये बैलगाड़ियों का ही सहारा लो। बिजली को छोड़कर दिया जलाओ, ट्रैक्टरों को छोड़कर बैलों से हल चलाओ। बड़े-बड़े उद्योग-धन्धों में धन को केन्द्री-भूत न होने दो। इस प्रकार अर्थ के विकेन्द्रीकरण से गृह-उद्योग बढ़ेगा और शोषण अपने आप मिटेगा। आरम्भ समारम्भ के हेतुभूत यांत्रिक साधन-प्रसाधन से हट कर सहस्रों वर्ष पूर्व के युग में चला जाना शोषणहीन समाज की रूपरेखा तो प्रस्तुत करता है किन्तु वह आज के मानव-समाज को

मंजूर हो तब न...? मनुष्य स्वभावतः विकासशील प्राणी है। सुविधावाद उसके जीवन का सिद्धान्त है। आज जहाँ वह पत्थरों का विकास करता हुआ बड़ी-बड़ी मिलों के निर्माण में सफल हो गया है। क्या वह उस स्थिति तक वापिस जाना चाहेगा? यह उसके सुविधा और विकास का प्रश्न है। जितना काम वह महीनों से नहीं कर सकता था, उतना आज यदि घन्टों में कर डालता है फिर वह उसी कार्य में महीनों लगाने का प्रयत्न करेगा, यह असम्भव तो नहीं किन्तु कठिन तो अवश्य है। झोंपड़ी से निर्माण में विकास और सुविधा करता हुआ वह आज भी बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओं के निर्माण पर पहुँचा है, दीपक के अल्प साध्य और अल्पतम प्रकाश से वह अनेक शक्तियों के केन्द्र विद्युत्-सामर्थ्य का अर्जन कर सका है। अब उसे इन सामर्थ्यों को छोड़कर वापिस चलने की बात अप्रिय ही नहीं कुछ उपहासमूलक भी लगती है। दवा वही उपयोगी हो सकती है जो मरीज को सह्य है। उससे भी सर्वश्रेष्ठ दवा हो सकती है किन्तु उसका कोई महत्त्व नहीं यदि रोगी उसे सह नहीं सकता हो।

समाज या देश माने या न माने तब भी आदर्श-आदर्श ही है। आदर्शवादी को तो उस पर चलना ही चाहिये यह एक विचार है। यह ठीक है मनुष्य आदर्श-विमुख न हो। वैयक्तिक जीवन में वह किसी भी कठोर मार्ग पर आगे बढ़ सकता है किन्तु जहाँ वह समाज को साथ लेकर चलना चाहता है वहाँ उसे आदर्श को व्यवहार्य बनाने के लिये कुछ समझौते मान लेने पड़ते हैं। ब्रह्मचर्य में निष्ठा है, व्यक्ति स्वयं ब्रह्मचारी होकर चले किन्तु समस्त मानव-जाति के लिये उसी आदर्श पर चलने का यदि आग्रह हो तो वह

सम्भव प्रयत्न नहीं माना जा सकता। समाज को उस दिशा में आगे बढ़ने के लिये एक-पत्नी-व्रत आदि नाना श्रेणियाँ उसके सम्मुख रखनी होंगी। जब यह कठिन या असम्भव लगता हो कि सारा समाज एकाएक यन्त्रमुक्त हो जायेगा तो उस स्थिति में अन्य व्यवहार्य मार्गों की अपेक्षा होती है। आज का मानव-मस्तिष्क तार्किक है। अल्पीकरण के इस सिद्धान्त पर वह यह भी कहते नहीं चूकता, यदि पीछे ही चलना है तो रेलगाड़ी से बैलगाड़ी तक ही क्यों? पदयात्री ही होकर हमें गुहा-मानव के युग में चला जाना चाहिये। यदि कहा जाता है, बैलगाड़ी व चरखा जीवन की अल्पतम व अनिवार्य आवश्यकताओं में आ जाते हैं, पर यह अनिवार्य मर्यादा भी तो एक कल्पित रेखा ही है। किसी दिन मनुष्य बिना वस्त्र व बिना झोंपड़ियों के भी तो रहता था।

समाजीकरण की सूझ

शोषण और संग्रह को मिटाने का एक विचार समाजीकरण है। यह सोचा जाता है मनुष्य अपनी स्वाभाविक गति से यांत्रिक-अयांत्रिक सभी विकास करता रहे पर वस्तुओं के साथ वह वैयक्तिक सम्बन्ध न जोड़े। एक परिवार की तरह सारा देश श्रम करे और परिणाम को बटवारे से भोगे, इसमें न कोई संग्रह रहेगा और न कोई शोषण। कुछ कहते हैं समाजीकरण की इकाइयां बड़ी से बड़ी हों और यथासम्भव सारा देश एक ही इकाई में हो। एक विचार है, वे इकाइयां जितनी छोटी होंगी, उद्देश्य की सफलता उतनी ही अधिक होगी। कुछ भी हो मानव-जाति के लिये यह तो अभीष्ट न हो कि वह जीवन की सारी शक्ति

लगाकर व्यष्टि या समष्टि रूप में अपने भौतिक पक्ष को ही प्रबल बनाता जाये। आध्यात्मिक उन्नति के अभाव में भौतिक उन्नति मानव के स्वस्थ शरीर में पक्षाघात है। उसका विनाशक परिणाम आज की विश्वस्थिति में सबके सामने आ ही चुका है। अतः विभिन्न विचारों के मंथन से यही तथ्य प्रगट होता है कि जीवन-व्यवस्था व्यष्टिपरक न रहे और *भौतिक साधनों की अभिवृद्धि व्यक्ति व समाज के विकास* का ध्येय न बने। रोटी व कपड़ा मानव-जीवन का सबसे गौण प्रश्न है। उसकी व्यवस्था में ही वह अपने जीवन की सारी शक्ति समाप्त करदे यह उचित नहीं। मानव का परम ध्येय तो आध्यात्मिक विकास है। लौकिक और लोकोत्तर दोनों ही प्रश्न अणु के विकास से नहीं किन्तु आत्मा के विकास से समृद्ध बनते हैं। अणुव्रत-जीवन-व्यवस्था के आधार पर चलने वाला समाज रोटी और कपड़े के विचार में ही अपनी सारी शक्ति का व्यय नहीं करेगा अपितु उस समाज में भौतिक अभ्युदय की बात नगण्य और आत्मिक अभ्युदय की बात प्रमुख रहेगी।

अर्थ संग्रह और मर्यादा

अर्थ-संग्रह की असीम भावना व्यक्ति के जीवन में एक क्षण भी विश्राम नहीं लेने देती। व्यक्ति दौड़ता है और वह जीवन भर दौड़ता रहता है, पर उस दौड़ में उसके जीवन का लक्ष्य उससे भी तीव्र गति से आगे दौड़ता है परिणाम, जीवन का अन्त आ जाता है पर दौड़ का अन्त नहीं। जिस व्यक्ति के पास १०,००० की पूंजी है वह ५० हजार का संकल्प कर दौड़ता है। ५० के निकट पहुंचते ही उसका संकल्प लाख तक दौड़ जाता है। करोड़-

पतियों और अरबपतियों को भी हमने इस दौड़ में विश्राम पाते नहीं देखा। अर्थ-संग्रह की इस असीम लालसा से मारा जीवन श्रान्त हो जाता है। व्यक्ति को यह भुला देना पड़ता है कि मेरे जीवन का और भी कोई पावन ध्येय है। उसके जीवन की सारी शक्ति केन्द्रित होकर इसी अर्थ-लालसा की ज्वाला में भस्मसात् हो जाती है और जीवन अन्यान्य अशेष आनन्दों से रहित होकर विरस हो जाता है। इसलिये आवश्यकता है अणुव्रती अपने जीवन की समस्त दैवी शक्ति को अर्थ-संग्रह में ही न होम कर अन्यान्य आध्यात्मिक गुणों के विकास के लिये भी उसे बचायें। वह मार्ग क्या हो यह एक समस्या है। व्यक्ति देश और काल आदि की नाना अपेक्षाओं से घिरा हुआ किसी एक ही मर्यादा से बांधा जा सके यह मर्यादा का अगला स्तर है; उससे पूर्व व्यवहार्य मार्ग नहीं बनता। व्यक्ति समाज, देश, काल आदि के अनुपात को ध्यान में रखते हुये स्वयं एक अर्थ-संग्रह की मर्यादा करे। मैं अपने जीवन में इतने से अधिक अर्थ-संग्रह नहीं करूँगा। अणुव्रती की यह मर्यादा व्यक्तिगत जीवन के लिये और सामाजिक स्थितियों के लिये बड़ी हितकर होगी। अर्थ-संग्रह की एक निश्चित मर्यादा होने से अणुव्रती अन्यान्य आध्यात्मिक क्षेत्रों के विकास के लिये समय बचा सकेगा और समाज में जो आर्थिक विषमता एक भीषण रूप ले रही है, उक्त मर्यादा उसे घटाने में महत्त्वपूर्ण योग करेगी।

लंचा-ग्रहण

व्यापारियों में जिस प्रकार मिलावट और झूठे तोल-माप का प्लेग फैला है उसी तरह राज-कर्मचारियों में रिश्वत की एक महामारी फैली हुई है। राजकर्मचारी उक्त

बुराइयों का नाम लेकर व्यापारियों को कोसते हैं, और लंचा का नाम लेकर व्यापारी राजकर्मचारियों को। अपनी-अपनी कमजोरी के कारण एक दूसरे के सामने सिर झुका देते हैं, कोई किसी का इलाज नहीं कर पाता। प्राचीनकाल में भी लंचा-ग्रहण का उल्लेख मिलता है। उस समय भी उसे एक बहुत बड़ा अपराध माना गया है। जो राजकर्मचारी लंचा-ग्रहण में पकड़ा जाता, राजा उसे कठोर से कठोर दण्ड देता। लंचा-ग्रहण आज भी एक भारी अपराध माना गया है। प्राचीनकाल में लंचा-ग्रहण करने वाले सहस्रों में कोई दो चार मिलते थे और आज लंचा नहीं ग्रहण करने वाले सहस्रों में दो चार मिलते हैं। आज तो पदाधिकारी यह कहते हैं कि केवल अपने वेतन के भरोसे पर तो हमारा जीवन-निर्वाह भी नहीं होता। हमें एक राजकर्मचारी के स्तर से रहना पड़ता है। हमारा वेतन तो हमारी आवश्यकताओं के लिये आटे में नमक बराबर होता है। वे कहते हैं राज-कर्मचारी होकर रिश्वत न लेना यह एक असम्भव अनुष्ठान है। यह सब व्यर्थ का प्रलाप है। अपनी दुर्बलताओं को छिपाने के लिये परिस्थितियों का आवरण डालना है। अपने रहन-सहन का एक ऊँचा स्तर बना कर उसकी पूर्ति के अवैध उपाय सोचना अवांछनीय है। जीवन का व्यवहार्य मार्ग तो यह कहा जाता है, अपनी आमदनी के अनुसार व्यक्ति अपने रहन-सहन का स्तर बनाये। यहाँ बात उल्टी हो रही है, पर उन समाधानों को कभी नैतिक नहीं माना जा सकता। सौ में दो चार जो आदर्शवादी राजकर्मचारी होते हैं क्या वे अपने जीवन को वेतन के आधार पर नहीं चलाते हैं? प्रत्युत देखा जाता है ऐसे व्यक्तियों का प्रभाव बड़ा प्रखर

होता है और वे अपने क्षेत्र में तरक्की किये जाते हैं। हाँ कभी-कभी ऐसे कर्तव्यनिष्ठों पर अकर्तव्यनिष्ठों का प्रहार होता रहता है क्योंकि वे उनकी उन्नति को सहन नहीं करते पर उनके दुष्प्रयत्नों से उन कर्तव्यनिष्ठ व्यक्तियों का बिगड़ता कुछ भी नहीं है। अणुव्रती कर्मचारी किसी भी स्थिति में लंचा-ग्रहण न करे। जीवन-यापन में कठिनाइयां भी आयें तो उन्हें झेले।

जनतंत्र और मतदान

जनतंत्र शासन का मूलाधार मतदान है। नींव यदि सुदृढ़ होती है तो उस पर बड़े से बड़ा प्रासाद खड़ा हो सकता है। जनतंत्र भी तभी स्वस्थ रह सकता है जब मतदान-व्यवस्था निर्दोष हो। एकतंत्र व्यवस्था में एक या कुछ व्यक्तियों का सम्बन्ध ही शासन-व्यवस्था से रहता है। उनका जैसा चरित्र वैसी ही शासन-व्यवस्था। जनतंत्र में शासनतंत्र की उच्चता और हेयता के लिये व्यक्ति-व्यक्ति उत्तरदायी है। वह तो एक डेरीफार्म की तरह है जिसमें साधारण, सम और उत्कृष्ट श्रेणी का दूध आकर मिलता है और वह एक रस हो जाता है। दूध की श्रेष्ठता व अश्रेष्ठता इसी पर रह जाती है कि उसमें कितनी मात्रा में बुरा दूध वहां परस्पर मिलता है। यही बात जनतंत्र-शासन-व्यवस्था की होती है। श्रेष्ठ और साधारण व्यक्तियों के शासन से शासन-सूत्र गढ़ा जाता है। *उसकी श्रेष्ठता और अश्रेष्ठता में वे सभी व्यक्ति उत्तरदायी हैं* जो मतदान में सम्मिलित हुये हैं। जनतंत्र की सफलता तभी सम्भव है जब जनता का बौद्धिक व नैतिक स्तर बहुत ऊँचा हो जाता है। मतदान में यदि अर्थ का प्रभाव बढ़ जाता है और अर्थ के द्वारा मत खरीदे जा सकते हों तो सुनिश्चित है देश

का समस्त शासन-सूत्र पूंजीपतियों के हाथ में होगा। यदि जातिवाद और सम्प्रदायवाद के आधार पर मतदान चल पड़ता है तो उसका परिणाम होता है, वह शासन-व्यवस्था किसी बड़ी जाति व किसी बड़े धर्म के हाथ में होगी। पर ये सारी बातें आज के युग में अवांछनीय मानी गई हैं। अतः अन्ततोगत्वा मतदान में चरित्र व योग्यता ही महत्वपूर्ण मान-दण्ड हो जाते हैं। प्राचीन काल में आज की तरह व्यापक रूप में जनतंत्र व्यवस्था का उदय नहीं हुआ था, पर जितना भी हुआ था उसमें इस बात पर अधिक बल दिया गया था कि उम्मीदवार का चरित्र कैसा है। उस काल में उम्मीदवार की चारित्रिक योग्यता सम्बन्धी कुछ मर्यादायें निश्चित भी थीं। आज भी तथारूप मर्यादाओं की अपेक्षा है। मतदान के लिये रुपये लेना और देना यह एक ऐसी बीमारी है जो सारे शासन-तंत्र को दूषित करती है। जहां पर व्यक्ति रुपयों के बदले पर अपना मत बेचता है वहां पर समझना चाहिये मनुष्य ने अपनी बुद्धि भी बेच दी है। नागरिकता के लिये मत बेचना अभिशाप है। उसमें उसकी व्यष्टिवादी मनोवृत्ति रहती है जो कि समष्टिपरक समाज व देश के लिये अत्यन्त अहितकर है। वहां व्यक्ति केवल इसमें सन्तोष मानता है मुझे इतने रुपये मिल गये। वह यह नहीं सोचता मेरी इस प्रवृत्ति का समाज और देश के हितों पर क्या दुष्प्रभाव पड़ेगा? वह इस बात को भूल जाता है कि जो उम्मीदवार रुपये बांट-बांट कर कुरसी पर पहुँचता है वह उन्हीं रुपयों को रिश्वत आदि नाना अवैध उपायों से पुनः बटोरेगा।

प्रश्न रहता है दोष किसका है? मतदान के लिये रुपये लेने वाले का या मत-प्राप्ति के लिये रुपये देने वालों का? दोनों ही दोषी

हैं। रुपये लेने वाला जैसे नागरिकता के साथ खिलवाड़ करता है वैसे ही रुपये देने वाला भी। एक उच्च कोटि के नागरिक में व अणुव्रती में वह आदर्श होना चाहिये, जहां रुपये देकर मत लेना पड़ेगा वहां किसी भी प्रयत्न के लिये उम्मीदवार नहीं बनूँगा। उसी प्रकार किसी भी स्थिति में रुपये आदि लेकर मतदान नहीं करूँगा।

महत्त्वाकांक्षा का अर्थ

पद की आकांक्षा प्राचीन नीति-शास्त्र में वर्जित थी। वहां यह आदर्श माना जाता था कि व्यक्ति स्वयं पद के लिये उम्मीदवार न हो। दूसरे व्यक्ति उसकी योग्यता देखकर उसे किसी पद पर स्थापित करें। जनतंत्र का मार्ग दूसरा है। वहां तो योग्य से योग्य व्यक्ति को भी अपनी ओर से अपना नाम देना पड़ता है। उसके नीचे भी विवेक है। समाज-शास्त्रियों ने बताया है एक उम्मीदवार (Candidate) को केवल अपनी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिये खड़ा नहीं होना चाहिये। उसको यह सोचना चाहिये, मैं स्थानापन्न होकर अपनी योग्यताओं का समाज-हित के लिये अधिक उपयोग कर सकूं। अणुव्रती आदर्श-पथ का पथिक है। उसे केवल यश व अधिकार के लोभ से ही राजनीति में नहीं जाना चाहिये। महत्त्वाकांक्षा मनुष्य के जीवन में स्वाभाविक है पर वह अनैतिकता की कोटि में आ जाती है, जहां उसका उद्देश्य स्वयं की पूर्ति ही हो जाता हो। ऐसी स्थिति में व्यक्ति आदर्श का पथिक न रह कर अवैध और अनैतिक प्रयत्नों से भी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति करना चाहता है जो कि सारे जनतंत्र को शिथिल कर देने वाली बात है। महत्त्वाकांक्षा का अर्थ होना चाहिये, अधिक से अधिक काम

करने की आकांक्षा। इसके साथ व्यक्ति यदि यह सोचता है कि मैं अपनी कार्यजा शक्ति का उपयोग अमुक स्थिति पर पहुंच कर अधिक कर सकता हूँ तो वहां कार्य करने की भावना प्रमुख है और स्थिति-सम्पन्नता की भावना गौण। अणुव्रती स्थिति-सम्पन्नता को किसी भी समय अपने जीवन का प्रमुख लक्ष्य न बनाये। इससे उसका आत्महित भी सधेगा साथ-साथ जनतंत्र की सफलता में भी चार चांद लगेंगे।

चिकित्सक और उसका मार्ग

चिकित्सक की आजीविका सेवा की आजीविका कही जाती है, पर उसके जीवन में यदि द्रव्यार्जन की प्रधानता हो जाती है तो वह केवल दवा का पेशा बन जाता है। यदि चिकित्सक व्यवसाय-वृद्धि से सब कुछ सोचता रहे तो वह संसार का कभी भला नहीं सोचेगा। लोगों में अधिक बीमारियों के फैलने से ही उसे हार्दिक प्रसन्नता होगी। प्रश्न हो जाता है जिसका जो व्यवसाय है वह उसकी वृद्धि न चाहे यह कैसे हो? समस्या कठिन हो जाती है कि आदर्श चिकित्सक का अन्तरालोचन क्या हो? रास्ता सीधा है, उसका काम होता है बीमार को स्वस्थ करने का न कि स्वस्थ को बीमार करने का, वह अपने चिन्तन का सम्बन्ध स्वस्थ व्यक्तियों से जोड़े ही क्यों? यदि जोड़ता है तो उसका मानसिक धरातल इतना ऊँचा होना चाहिये कि अपने व्यवसाय-वृद्धि की लालसा में भी अस्वास्थ्य-वृद्धि उसकी कल्पना में न आये। उसके चिन्तन का सम्बन्ध यहीं समाप्त हो जाता है अस्वस्थ को मैं स्वस्थ करने में कर्तव्यनिष्ठ व चरित्रनिष्ठ रह सकूं। आयुर्वेद, ऐलोपेथी, होमियोपेथी, प्राकृतिक चिकित्सा आदि

नाना चिकित्सा पद्धतियाँ व नाना चिकित्सक हैं। जहाँ जो बुराई चल सकती है वहाँ उसे चलाने का चिकित्सक लोग प्रयत्न करते हैं। खाद्य-पदार्थों में मिलावट होती है इसलिये रोग पैदा होते हैं। रोग-मुक्ति के लिये चिकित्सक नकली व मिलावट की दवाइयां देते हैं। मिलावटी खाद्य से पैदा हुआ रोग मिलावटी दवाइयों से कैसे मिटेगा, प्रत्युत वह बढ़ेगा। इसलिये मिलावट स्वयं समाज का एक रोग बन जाता है। दवाइयों में भी मिलावट और वह भी स्वयं चिकित्सकों के द्वारा हो यह तो घोर विश्वासघात होता है। रोगी वैद्य के हाथ में अपना अमूल्य जीवन सौंपे और वैद्य उसे नकली व मिलावट पूर्ण दवा दे यह तो अपने तुच्छ लाभ के लिये रोगी के जीवन के साथ खिलवाड़ करना है। कभी-कभी चिकित्सक लोग अपनी फीस चालू रखने के लिये व औषध का चार्ज बढ़ाने के लिये चिकित्सा को अनहद लम्बी कर देते हैं। रोगी समझ भी जाता है निरर्थक समय लगाया जा रहा है पर चिकित्सक के हाथों फंसा बिचारा वह क्या करे ? हाँ इतना तो वह अवश्य कर लेता है, भविष्य में बीमार पड़ा तो इस कंबख्त चिकित्सक के पास नहीं आऊँगा। तात्पर्य यह होता है इस प्रकार अनैतिक आधारों पर चलने वाला चिकित्सक धर्म को भी खोता और ग्राहक को भी।

चिकित्सकों में असहिष्णुता व मनोमालिन्य बहुत देखा जाता है। आयुर्वेद पर चलने वाले डाक्टरों को नहीं सहते और डाक्टर उन्हें। पर विशेषता तो यह है कि डाक्टर डाक्टरों को नहीं चाहते व वैद्य वैद्यों को। रोगी वैद्य का इलाज कराता है। विशेष दिलजमी के लिये यदि बीच में डाक्टर को बुला लेता

है तो वैद्य की आँखों में खून उतर आता है। यह भी देखा जाता है, आयुर्वेद वाले एलोपैथी को नाना उदाहरणों से बुरी बताते हैं और एलोपैथी पर चलने वाले डाक्टर आयुर्वेद को। यही स्थिति अन्यान्य चिकित्सा पद्धतियों के विषय में है। भारतवर्ष में चिकित्सकों का मानसिक धरातल सहिष्णुता व सद्भाव से कोरा लगता है। उसमें सुसंस्कारों के बीजारोपण की महती आवश्यकता प्रतीत होती है। चिकित्सकों के गुण-ग्राहिता के अभाव में देश ने बहुत क्षति उठाई है। आयुर्वेद के सहस्रों वर्ष बाद पैदा होने वाली चिकित्सा प्रणालियां बहुत आगे बढ़ गई हैं। आयुर्वेद का नया विकास तो दूर रहा दिन प्रतिदिन ह्रास का ही वातावरण देखने में आता है। विदेशों में जहां कोई एक डाक्टर नई शोध करता है, वह उसे संसार में फैलाना चाहता है। भारतवर्ष के किसी वैद्य को कोई छोटा-मोटा ही नया नुस्खा हाथ लग जाता है, वह उसे छिपा के रखना चाहता है। यहां तक कि अपने लड़के को भी नहीं बताता। वह सोचता है आज मैं अपने लड़के को बता दूं और कल यदि लड़का मेरे से अलग हो जायेगा तो मेरे व्यवसाय को खत्म कर डालेगा। इसी संकीर्ण मनोवृत्ति को भारतवासियों ने आयुर्वेद, कला, ज्योतिष आदि नाना विषयों में अब तक अपनाया है। उसका परिणाम आज सामने यह आ रहा है कि उक्त प्रकार के ज्ञान-विज्ञानों के लिये जहां दूसरे देशों के लोग भारतवर्ष की ओर देखा करते थे आज भारतवासी दूसरे देशों की ओर झांकते हैं। अणुव्रती चिकित्सक असहिष्णुता आदि दुर्गुणों से ऊँचा उठे, वह मिलावटी दवाइयों के प्रकोप से बचे व अपने लाभ के लिये रोगी की चिकित्सा में अनुचित समय न लगाये, वह अवगुण-ग्राही न होकर गुण-ग्राही बने।

अर्थवाद का प्रभाव इतना बढ़ गया कि विवाह भी एक व्यवसाय बनता जा रहा है। विवाह का अर्थ होता है गृहस्थ-जीवन की गाड़ी को चलाने के लिये दो व्यक्तियों का चक्के के रूप से उसमें जुड़ जाना। उसमें

विवाह-सम्बन्ध और ठहराव

अपेक्षा होती है यह देखने की कि दोनों चक्के आकार-प्रकार व अन्य विशेषताओं में बराबर हैं या नहीं। तीसरे व्यक्ति का वहाँ कोई स्वार्थ अपेक्षित नहीं होता। आज समाज में उन दो की अपेक्षायें गौण हो चली हैं और विवाह मातापिता की अर्थ-लालसा को पूरने का व्यवसाय बन गया है। कुछ दिनों पूर्व तो मातापिता केवल कल्पना करते थे अमुक इतने का दहेज देने वाला है और अमुक इतने का, पर आजकल तो खुल कर सौदा होने लगा है। दलालों को दलाली मिलती है। अधिक रुपया देने वाला मिलने पर थोड़े रुपये देने वाले का सौदा इन्कार भी कर दिया जाता है। बाजार की दर भी घटती बढ़ती जा रही है। आजकल उसमें परिवर्तन आगया ऐसा लगता है। किसी युग में लड़की महंगी थी। लड़की के मातापिता लड़के के माँ-बाप से रुपये लेते थे। अब लड़के की महंगाई है। दर इतनी ऊँची बढ़ गई है कि लड़की वालों का दम घुटने लगा है। जिसके दो चार लड़कियाँ हैं, आजीविका साधारण है, उसकी सुध लेने वाला कोई नहीं है। पहले कुछ लोग ही ठहराव करते थे वे भी लुक-छिप कर, अब तो धनीमानी लोग भी ठहराव करने लगे हैं। एकाएक स्पष्ट आंकड़ा जो नहीं कहना चाहते थे, वे प्रकारान्तर से अपनी भावनायें व्यक्त करते हैं। वे लड़की वालों से कहते हैं रुपये पैसे की हमारी कोई बात नहीं है। रुपये का क्या ? अमुक आदमी आया था वह भी विवाह में २०

हज़ार रुपये तक लगा देने की बात कहता था पर हमें तो लड़की अच्छी चाहिये और आप जैसे उदारचेता सज्जन। लड़की वाला मूढ़ समझ लेता है। यदि इससे अधिक खर्च करने की शक्ति नहीं है तो अपनी राह लेता है। इस कुप्रथा का प्रभाव यहां तक बढ़ गया है कि मातापिता को इस कष्ट में दुःखित हो र कुछ लड़कियां आत्मघात कर लेती हैं, कुछ आजीवन के लिये कुंआरापन स्वीकार कर लेती हैं। कुछ ऐसे भी प्रसंग देखने में आते हैं जहाँ विवाह के प्रयत्न में लड़कियां प्रौढ़ावस्था को पार कर जाती हैं। सामान्यतः लड़की को ब्याह देने में कष्ट तो हर एक को उठाना ही पड़ता है। इन सारी स्थितियों का मूल ठहराव है। इस प्रकार की घृणित प्रथा और वह भी आज के युग में। आश्चर्य! नारी-जाति का यह एक दुःसह अपमान है। नारी और पुरुष का सम्बन्ध जबकि सृष्टि का एक सहज गुण है, उस पर पुरुष का यह क्रूर प्रतिबन्ध कैसे क्षम्य कहा जा सकता है। अणुव्रती अपने पुत्र व कन्याओं का रुपये आदि लेने का ठहराव कर विवाह नहीं करेगा।

प्रश्न रहता है अणुव्रती लेने का ठहराव न करे यह तो सम्भव हो सकता है। इसमें तो उसे अपनी ही अर्थ-लालसा को रोकना पड़ता है, पर समाज में जब तक बिना कुछ देने का ठहराव किये उन लड़कियों का विवाह भी असम्भव है, ऐसी स्थिति में अणुव्रती क्या करे? वैसे तो देने का ठहराव भी अनुचित है और उसी कुप्रथा को बल देने वाला है, पर इसका सम्बन्ध अणुव्रती की आत्मा से नहीं मिलता उसकी कन्या से है। अणुव्रती का अड़जाना भी ऐसी स्थिति में दूसरा रूप ले लेता है। फिर भी अणुव्रती इस बात के लिये प्रयत्नशील तो अवश्य रहे कि मुझे देने का ठहराव भी न करना पड़े।

गहराई से यदि देखा जाये तो ठहराव करने वाले केवल अपनी मानवता को ही खोते हैं। ठहराव नहीं करने पर भी लड़की के मातापिता यथा-सम्भव धन देते तो हैं ही। अन्तर केवल इतना ही पड़ता है, वैसे वे अपनी इच्छानुसार देते हैं और ठहराव करने वाला उन्हें कुछ कस कर अधिक लेता है। ठहराव करने वाले के साथ लड़की के माता का कोई प्रेम नहीं रह जाता। परिणाम यह होता है, ठहराव करने वाला थोड़े से लालच में अनैतिकता, मानवता और सगों का प्रेम छोड़ देता है।

दहेज और प्रदर्शन

आदर्श तो यह है, अणुव्रती दहेज आदि ले ही न। क्योंकि यह एक रूढ़ि है। रूढ़ि इसलिये तो नहीं कि मातापिता प्यार से अपनी बेटी को कुछ न कुछ दें पर समाज-व्यवहार में जो आज इसका रूप है वह बहुत विकृत बन चुका है। अब दहेज पुत्री के प्रति प्यार का सूचक न रहकर पिता के सम्मान का सूचक रह गया है। दहेज के अवसर पर अपनी प्रतिष्ठा कायम रखने के लिये पिता को कितना भी कष्ट उठा करके बहुत कुछ देना पड़ता है। जहाँ अनिवार्यता है वहाँ भार है, जहाँ भार है वहाँ प्यार कहाँ? दहेज को कुप्रथा बताने का यही एक हेतु रह जाता है। पिता अपने प्रेम से लड़की को चाहे कुछ भी दे देता है पर यदि सामाजिक प्रथा के अनुसार नहीं तो समाज सुधारक कोई आपत्ति नहीं मानते। उसमें अनिवार्यता नहीं प्रदर्शन नहीं। इसलिये उस देने का समाज पर कोई दुष्प्रभाव नहीं पड़ता। पर ऐसे देने वाले भी बहुत विरले मिलते हैं। बहुतेरे तो ऐसे मिलते हैं जो दहेज में १० हजार की सम्पत्ति दे देते हैं पर विधिवश यदि लड़की का ससुराल पक्ष गरीब हो गया या लड़की स्वयं

आर्थिक अभाव से पीड़ित हैं तो उसे सौ-पचास रुपये का योगदान करना भी उनके लिये कठिन हो जाता है। अस्तु, इस विषय में अणुव्रती की न्यूनतम मर्यादा यह है कि वह अपने यहां आने वाले दहेज आदि का प्रदर्शन न करे और ऐसे प्रदर्शनों में भाग न ले। लगता है, इस दिशा में होने वाले अणुव्रती के इस चरण-विन्यास से भी समाज में कुछ सुधार होगा। जैसे बताया गया कि दहेज में सबसे बड़ी बुराई यही है कि वह सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रश्न बन गया है। प्रदर्शन का निरोध होने से वह प्रश्न टूट जाता है। अणुव्रती पिता अपनी पुत्री को जो भी दहेज आदि देगा तो वह समाज में उसका विज्ञापन नहीं करेगा और अणुव्रती पिता अपने पुत्र के ससुराल से आने वाले दहेज का भी न तो विज्ञापन करेगा और न कम या अधिक कोटि की टिप्पणी करेगा। इसमें दहेज को लेकर समाज में होने वाली प्रतिस्पर्धाओं और अनिवार्यताओं का भार मिटेगा। उस स्थिति में दहेज का अर्थ केवल इतना ही रह जायेगा—पिता अपने प्यार से अपनी पुत्री को यथासम्भव कुछ भी दे।

शील व चर्या

मनुष्य का आदर्श उसकी जीवन-चर्या से ही परखा जाता है। खान-पान, रहन-सहन का विवेक

आमिष-आहार

ऊर्ध्वमुखी हो, यह सदा ही अपेक्षित है। मांसाहार क्रूर हिंसा का प्रेरक है अतः वह वर्जनीय है। भारतवर्ष की तो बात ही क्या, अन्य पाश्चात्य देशों में जहाँ शत प्रतिशत लोग मांसाहारी थे, इन दिनों निरामिषता का प्रचार प्रबल होता जा रहा है। मांसाहार-निषेधक राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय संस्थायें बनती जा रही हैं। विषय को काफी उत्तेजन मिल रहा है। साथ-साथ एक अन्य विचारधारा भी पनपती जा रही है जो मांसाहार को स्वाभाविक मानकर क्षम्य समझती है। क्षम्य ही नहीं जलाशयों में मछलियों की खेती करने पर भी बल देती है। अण्डों का उत्पादन कैसे बढ़े, यह तो बड़े-बड़े मंत्रीजन भी सोचने लगे हैं। ऐसी ओटोमेटिक नावों का भी आविष्कार हो चुका है जो समुद्र में चलती हुई थोड़ी सी देर में सहस्रों बड़ी-बड़ी मछलियाँ पकड़ लेती हैं। कुछ लोग इस बात में भी विश्वास रखते हैं कि मनुष्य प्रतिदिन समुद्र से लाखों मन मछलियाँ पकड़ता है और खाता है, प्रकृति में सन्तुलन करने के लिये यह ठीक है नहीं तो कुछ ही अवधि में समुद्र मछलियों से इतना भर जावेगा कि उसमें जलयानों का गमनागमन भी सम्भव नहीं हो सकेगा। प्रकृति का सन्तुलन भी बिगड़ जायेगा। बुद्धि की पहुँच अद्भुत है। वे लोग

प्रकृति में विप्लव न हो। इसलिये मांसाहार को नैसर्गिक बताते हैं। उन्हें यह पता नहीं प्रकृति में समता रखने वाले उनसे भी बड़े जानवर समुद्र में मौजूद हैं। एक-एक बड़ा मच्छ एक साथ सैकड़ों हजारों छोटी मछलियों को निगल जाता है। मनुष्य जितनी भी मछलियाँ समुद्र से निकालता है वे नहीं के बराबर हैं। अतः विवेक की बात यह है कि मनुष्य प्रकृति में सन्तुलन का दायित्व छोड़ कर अपनी मानवता में सन्तुलन लाये। वह देखे कि मेरे जीवन में कितनी मानवीय वृत्तियाँ हैं और कितनी आसुरी। प्रकृति में सन्तुलन लाने की चिन्ता में कहीं आसुरी वृत्तियाँ उसके जीवन में ही असन्तुलन पैदा न करदें।

कुछ भी हो मांसाहार फिर से एक विवादग्रस्त प्रश्न बन गया है। समय-समय पर अनेकों विवादपूर्ण लेख और भाषण जनता के सामने आते हैं। एक पक्ष कहता है कि मनुष्य का प्राकृतिक खाद्य मांसाहार है तो दूसरा पक्ष विविध युक्तियों और प्रमाणों से यह सिद्ध कर देता है कि मनुष्य प्रकृति से शाकाहारी है। मनुष्य अपनी मूल प्रकृति से क्या है? यह केवल युक्ति और विश्वास का विषय है, जो दोनों ही पक्षों के भिन्न हैं। प्रत्यक्ष का पर्याप्त स्थान दोनों में ही नहीं है। अतः अपेक्षाकृत यह सोचने के कि मनुष्य अपने मूल स्वभाव से शाकाहारी है या मांसाहारी, यह सोचना अधिक निर्णायक हो सकता है कि मनुष्य को होना क्या चाहिए। इस प्रकार सोचने से जो भी निर्णय हमारे सामने आता है, वही उस बात का निर्णायक हो सकता है कि मनुष्य अपने मूल स्वभाव से क्या है? यह निर्णय न भी हो तो भी कोई आपत्ति नहीं क्योंकि हमारा ध्येय तो यही है कि आज की

विकासोन्मुख मानवता को किस ओर जाना श्रेयस्कर है—सामिषता की ओर या निरामिषता की ओर? आज अधिकार प्राप्ति का युग है। समस्त व्यक्ति अपने अधिकारों के लिये लड़ रहे हैं। प्रत्येक व्यक्ति यह कहता है कि मुझे स्वतन्त्रता-पूर्वक जीने का अधिकार है। आज एक वर्ग दूसरे वर्ग को उसके अधिकार दिलाने में जी-जान से योगदान करता है। पर क्या किसी वर्ग ने इन अगणित पशुओं की करुण चीत्कारमयी अधिकारों की माँग पर भी कान लगाया है? क्या उन्हें इस पृथ्वी पर जीने का अधिकार नहीं है? क्या वह मानव-जाति के लिये प्राण-न्योछावर कर स्वर्ग की कामना करते हैं? क्या उनके हित-संरक्षण का विचार कभी सुरक्षा-परिषद् में चला? क्यों चले, कैसे चले, उनका वहाँ कौन प्रतिनिधि है? आज प्राणी जगत् में मनुष्य का राज्य है, उसकी सामन्तशाही है, वह अपने समाज के लिये इतर प्राणियों का चाहे जैसे उपयोग करे, उसे रोकने वाला कौन है? वह कहता है—मैं ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ कृति हूँ। उसने मेरे लिये ही सब कुछ रचा है। मेरे लिये किसी भी प्राणी का वध अवैध नहीं है। आज यदि मांसाहार-निरोधक प्रस्ताव मानव-समाज में आये, अधिकांश व्यक्ति अविलम्ब उसके विरोध में अपना मतदान कर उस प्रस्ताव को असफल करेंगे। किन्तु उस प्रस्ताव की यथार्थता तो तब प्रकट हो जब उस परिषद् में पशुओं को भी मतदान का अधिकार मिले। अस्तु-आवश्यक तो यह है कि आज की साम्य भावना को मानव-समाज के कटघरे से बाहर निकाल कर उसे यथासम्भव और भी व्यापक बनाया जाये।

मानव-समाज से मांसाहार का मूलोच्छेद कठिन अवश्य

है पर असम्भव नहीं। असम्भव तो वह तब होता है जब मांसाहार के बिना मानव जी ही नहीं सकता। पर ऐसी बात नहीं—करोड़ों मनुष्य निरामिष-भोजी होते हुए भी आमिष-भोजियों की तरह ही नहीं उससे भी अधिक सुखमय जीवन बिताते हैं। जब मनुष्य मांसाहार के बिना भी सुखपूर्वक जी सकता है, तब यह क्यों आवश्यक है कि मनुष्य इस हिंसापूर्ण और दूसरे जंगम प्राणियों के प्राकृतिक अधिकारों को कुचलने वाली मांसाहार-वृत्ति से चिपटा रहे।

इस विषय में सबसे बड़ी समस्या जो कि इस ओर विचारने मात्र से मनुष्य को विमुख करती है वह यह है कि जब ६६)प्रतिशत मनुष्यों का जीवन मांसाहार पर ही अवलम्बित है जिस पर भी अन्नाभाव की चिन्ता मानव-समाज को सताती रही है, यदि सभी मनुष्य मांसाहार का परित्याग करदें तो भूखों मरने के अतिरिक्त उनके सामने कोई मार्ग नहीं रहेगा। इसी विचार सरणि से आक्रान्त होकर ही महात्मा गांधी जैसे अहिंसा-प्रसारकों ने शाकाहार में पूर्ण विश्वास रखते हुये भी इस दिशा में कोई सक्रिय कदम नहीं उठाया। आज के अन्य अहिंसावादी भी अधिकांश इस विषय में मौन हैं, और उस मौन का एक मात्र यही कारण हो सकता है। अस्तु; हमें देखना तो यह चाहिये कि क्या संसार में कभी एक भी ऐसा आन्दोलन हुआ है जिसके सफल होने में बड़ी-बड़ी बाधायें न रही हों? किन्तु जब-जब मनुष्य ने इन बाधाओं के निराकरण के विषय में सोचा, प्रयत्न किया तब-तब उसे समाधान मिला है। इतिहास कहता है कि मनुष्य प्रारम्भिक दशा में मांसाहारी ही था। ज्यों-ज्यों विकास की ओर अग्रसर हुआ, उसने खेती करना सीखा, अन्न पकाना सीखा और परिणामतः सारा

संसार अन्नाहारी है। करोड़ों मनुष्य तो केवल अन्नाहारी हैं। जब मनुष्य मांस से अन्नाहार की ओर आया है निःसन्देह आज निरामिष-भोजी अपेक्षाकृत मांसाहारियों से अधिक विकास की अवस्था में हैं। जब मनुष्य का ध्येय मांसाहार की दिशा से मुड़कर निरामिषता की दिशा में आज से सहस्रों वर्ष पूर्व ही हो चुका था तब आज फिर अहिंसावादियों को मांसाहार का विरोध करने में संकोच और हिचकिचाहट क्यों?

आज के विचारक क्यों इस विषय में उपेक्षा को प्रोत्साहन देते हैं, सहस्रों वर्ष पूर्व के विचारक भी इसी समस्या से घबरा कर यदि मांसाहार पर ही डटे रहते तो मनुष्य की अन्न-निष्पादन शक्ति का कुछ भी विकास न हुआ होता और शत-प्रतिशत मनुष्य केवल मांसाहारी ही होते, वे अन्न का नाम ही न जानते।

आवश्यकता आविष्कार की जननी है। ज्यों-ज्यों मनुष्य अन्न का आदी हुआ त्यों-त्यों अन्न का उत्पादन वृद्धिंगत हुआ। इतिहास में विश्वास रखने वाले इसमें दो मत नहीं हो सकते। आज के वैज्ञानिक साधनों के युग में तो यह सोचना यथार्थता से बहुत परे होता है कि मांसाहार का परित्याग कर देने के पश्चात् मनुष्य के जीने का कोई सहारा नहीं रहेगा।

इस दिशा में मनुष्य को असम्भवता के दर्शन इसलिये होते हैं कि वह अपनी कल्पना को एक दम अन्तिम छोर तक ले जाता है। वह सोचता है, आज यदि सारा संसार मांसाहार का परित्याग करदे तो पर्याप्त अन्न आयेगा कहाँ से? किन्तु तथ्य यह है कि आज यदि मांस-परिहार का

लिये प्रयत्नशील होना ही चाहिये। क्योंकि वहाँ हिंसा का ह्रास और अहिंसा का विकास है। अहिंसावादियों का इस विषय में अपेक्षात्मक निर्णय ऐसा लगता है कि मानो सारा संसार सहस्रों वर्षों के प्रयत्नों से भी अहिंसावादी हुआ ही नहीं, आगे उतने ही काल में वह हो सके, ऐसी सम्भावना नहीं है इसलिये अहिंसा का प्रसार अव्यावहारिक है।

आवश्यक है कि अहिंसावादी इस विषय में सुसंगठित रूप से कोई अहिंसात्मक प्रयत्न प्रारम्भ करें। मांसाहार हिंसा-प्रसार का अनन्य साधन है, वह इस अर्थ में कि निरामिष-भोजी के हृदय में हिंसा से स्वतः घृणा रहती है। अधिकांश निरामिष-भोजी प्राणियों का वध करना दूर, माँस तक को देखने में काँप उठते हैं। मनुष्य के मारने की बात को अवसर वे सोच ही नहीं सकते। मांसाहारियों की स्थिति ऐसी नहीं है। वे पशु-हत्या से घृणा न करते हुये मनुष्य-हत्या के भी अधिक समीप पहुँच जाते हैं। आवश्यकतावश वे किसी भी हिंसा में सहजतया प्रवृत्त हो सकते हैं। यदि संसार से मांसाहार उठ जाये तो होने वाली बर्बर हिंसायें अवश्य कम होंगी और अहिंसा का मार्ग बहुत कुछ निरापद होगा।

नियमों के विषय में

अणुव्रत-आन्दोलन नैतिक उत्थान का एक अहिंसात्मक संगठन है। उसमें मांसाहार निरोधक नियम उक्त दृष्टि के अनुसार आवश्यक माना गया है। अणुव्रती मांसाहार का सर्वथा त्यागी होगा। दिल्ली अधिवेशन के पश्चात् ज्यों-ज्यों अणुव्रत-आन्दोलन के नियम सार्वजनिक क्षेत्र में आये, विभिन्न विचारकों और आलोचकों के हाथों में पहुँचे, बहुत

सहानुभूतिपूर्ण समीक्षा हुई। मांसाहार-निषेध का नियम तो विशेष रूप से समीक्षा का अंग बना। प्रमुख गाँधीवादी विचारक श्री किशोरलाल मशरूवाला ने इस सम्बन्ध से पत्र व्यवहार करते हुये लिखा था—"निरामिष भोजन के सम्बन्ध में मेरा व्यक्तिगत मत तो यही है कि कभी-न-कभी मानव-जाति को इस पर आना होगा। लेकिन यह एक लम्बा मार्ग है और जिस हेतु से आप इस आन्दोलन का आयोजन करना चाहते हैं उसमें इसका स्थान व्यवहार्य नहीं है। यदि इस विषय में कदम उठाना हो तो बौद्धों के "उपोसथ" व्रत के तौर पर सोचा जा सकता है यानि मास में अमुक दिन।"

कलकत्ता युनिवर्सिटी के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष डा० सातकौड़ी मुखर्जी, प्रो० अमरेश्वर ठाकुर व डा० कालिदास नाग आदि बंगाली विचारकों ने आचार्यवर से अनुरोध किया कि अणुव्रतों का प्रसार बंगाल में अपेक्षाकृत अन्य प्रान्तों से अधिक सम्भव है किन्तु मॉस सम्बन्धी नियम में कुछ संशोधन की आवश्यकता है, क्योंकि बंगालियों के लिये एकाएक मॉस-परित्याग करना कठिन है।

सुप्रसिद्ध विचारक श्री जैनेन्द्रकुमारजी ने एतद्‌विषयक चर्चा के प्रसंग में सुझाव दिया—"मेरा मत तो यह है कि नियम की रचना निषेधात्मक है ही वह वैसे ही रहे। जो जन्मजात मांसाहारी हैं उनके लिये इतने शब्द और जोड़ दिये जायं कि पक्ष में या मास में इतने दिन नहीं खाऊँगा। इससे नियम की निषेधात्मकता भी अक्षुण्ण रहेगी और नियम भी अधिक व्यवहार्य हो सकेगा।"

डॉ० रामाराव एम० ए० पी० एच० डी० ने अन्य सुझावों के साथ इस सम्बन्ध में निम्नोक्त सुझाव दिया—"जो मांस-

भदी है उनके लिये सप्ताह में कुछ दिन खुले रहने चाहियें, घर के लिये न भी हों पार्टी आदि में जहाँ कि खाना अनिवार्य-सा हो जाया करता है।"

मि० एस० ए० पीटरस का सुझाव था—"मांसाहारियों से मांस एकाएक नहीं छोड़ा जा सकता। उनके लिये मास या सप्ताह में कुछ दिन का प्रतिबन्ध होना चाहिये।"

मि० राडरिक ने पूर्वोक्त प्रकार के सुझाव के साथ-साथ इस बात पर विशेषतया जोर दिया था कि दवाई आदि के रूप में तो इस नियम से व्यक्ति खुला ही रहना चाहिये।

इन सारी चर्चाओं के पश्चात् आन्दोलन की यह व्यवस्था अब तक निश्चित् है कि प्रवेशक अणुव्रती मांसाहार के त्याग को अपना लक्ष्य बनाये चूँकि अणुव्रती के लिये तो मांसाहार-त्याग की अनिवार्य मर्यादा है ही। अन्यान्य मांसाहार-जातियों तथा विदेशों में भी आन्दोलन का स्वागत है। उन सबका कहना है—मांसाहार हमारे संस्कारों का विषय है न कि अनैतिकता का, इसलिये मांसाहार के विषय पर यथासम्भव और विचार किया जाय।

मद्य-पान

भारतीय संस्कृति में मद्य-पान सदा से हेय माना गया है। धर्मशास्त्रों ने मद्य-पान के बुरे परिणाम बताये, राजाओं ने इस विषय में नाना कानून बनाये और यह पंच पंचायतों में सदा वर्जित रहा। मद्य-पान करने वालों पर पंचायत के द्वारा व राज्य के द्वारा कड़ा दण्ड होता था। कतिपय शीत देशों में मद्य-पान को सामाजिक रूप मिला है, किन्तु यह अविवेक होगा—उष्णता प्रधान देश में रहने वाले भारतवासी भी उनका अनुकरण करें। मद्य-पान के विरोध

में महात्मा गांधी ने व्यापक आन्दोलन किया था और वर्तमान भारत सरकार भी समग्र भारतवर्ष में इसे सर्वत्र घोषित करने के लिये प्रयत्नशील है। कुछ प्रान्तों में मद्य-निषेधक कानून बन ही गया है। कुछ प्रान्तों के शासकजन चाहते हैं कि हमारे प्रान्त में भी मद्य-निषेधक कानून बन जाये पर उन्हें एक कठिनाई लगती है। वे कहते हैं—मद्य से जो करोड़ों रुपये की आमदनी राज्य को होती है वह बन्द हो जाने से शासन-व्यवस्था पर बड़ी कठिनाई आती है। मद्य का निषेध होने से प्रान्त में शिक्षा का विकास भी रुक जायेगा, क्योंकि शिक्षा-विभाग में लगने वाली धन-राशि की अधिकतम पूर्ति मद्य सम्बन्धी आय से ही होती है। ऐसा सोचना कोई बुद्धिमानी की बात नहीं लगती। शिक्षा के विकास के लिये मद्य-पान की छूट हो, यह तो बहुत परिहास की बात लगती है। लोग कहते हैं ऐसी शिक्षा से तो, जो मद्य-पान पर ही पनती है, अशिक्षा ही अच्छी। दूसरी बात यह सिद्धान्त ही गलत हो जाता है। आज की दृष्टि से ही सब कुछ सम्य मान लिया जाये तो किसी भी बुराई का अन्त राज्य के द्वारा नहीं हो सकता। अणुव्रत-आन्दोलन का विश्वास तो हृदय-परिवर्तन पर अवलम्बित है। जब तक मद्य-पीनेवालों में अधिक संख्यक लोगों का हृदय नहीं बदल जाता, तब तक कानून सफल नहीं होते, प्रत्युत उससे भ्रष्टाचार बढ़ जाता है। सुना गया है जिन प्रान्तों में अभी-अभी कानून बना है, वहाँ मद्य का प्रच्छन्न व्यवसाय और भी जोरों से चल पड़ा है। मद्य-आयात के इतने अजीब तरीके काम में लाये जाते हैं जिन्हें सुनकर दंग रह जाना पड़ता है। जिन्हें पीने की लत है वे ऊँचे से ऊँचा दाम देकर भी मद्य खरीदते हैं। इससे व्यवसाइयों का व्यवसाय चलता

है, उन सब राज्याधिकारियों का भी जो उनके साथ मिले-जुले हैं। इसलिये मद्य-निषेध का सही मार्ग यही है—जन-जन के हृदय में उसके प्रति घृणा पैदा हो और व्यक्ति स्वयं उसके व्यवहार का परित्याग करे।

कुछ व्यक्ति कहा करते हैं—मद्य अति मात्रा में पीना हानिप्रद है। पर्याप्त मात्रा में तो वह स्वास्थ्य के लिये लाभप्रद ही है। यह गलत दृष्टिकोण है। यह सोच लेना चाहिये, उचित मात्रा के नाम पर भी यदि समाज ने उसे प्रश्रय दिया तो आगे जाकर वह बहुत विनाशकारी सिद्ध होगा, क्योंकि फिर तो व्यक्ति-व्यक्ति की मनस्तृप्ति पर्याप्त मात्रा बन जायेगी। दूसरी बात-यह मनुष्य की कोई अनिवार्य खुराक नहीं है। यत्किंचित् लाभ की कल्पना तो वस्तु मात्र से की जा सकती है। मद्य में ऐसी कोई अलौकिक विशेषता तो है ही नहीं, जिसकी पूर्ति दूसरी कोई भी सात्त्विक वस्तु न कर सकती हो। अस्तु-व्यसन-पोषण के अतिरिक्त ऐसी तर्कों में कोई बल नहीं मिलता।

भारतीय संस्कृति में मद्य-पान को सात दुर्व्यसनों में से एक दुर्व्यसन माना गया है। व्यसन का अर्थ है—जो एक बार लग जाने पर छूटना कठिन हो जाता हो। देखा गया है इस व्यसन के कारण इसी जीवन में मनुष्य की भयंकरतम दुर्गति हो जाती है। बहुतों के बच्चे भूख से बिलखते हैं, स्त्री के पास तन ढंकने को वस्त्र नहीं है पर उसकी सारी आजीविका मद्य-पान में ही पूरी हो जाती है। सबसे बुरी बात तो यह है कि इस बुराई के साथ और अनेक बुराइयाँ मनुष्य में आ ही जाती हैं। बुराइयों में प्रेम होता है।

जिसको एक बुराई से वास्ता पड़ा, समझ लो दुनियाँ भर की बुराइयाँ छाया की तरह उसके साथ हो जायेंगी। उपदेश-ग्रन्थों में एक कथानक मिलता है। एक परदेशी मित्र बहुत ही वर्षों से किसी एक अपने मित्र के घर आया। मित्र के पास बैठकर बातें करने लगा। मित्र के मुँह से मद्य की गन्ध आ रही थी। तब आगन्तुक ने कहा—मित्र! तुम मद्य कब से पीने लगे? यह तो बहुत बड़ी बुराई है।

मित्र—भाई! मैं मद्य कोई हमेशा नहीं पीता, जब कभी मांसाहार कर लेता हूँ तभी पीना पड़ता है।

आगन्तुक—छी! छी!! तुम तो मांसाहारी भी हो गये?

मित्र—मैं हमेशा मांसाहार थोड़े ही करता हूँ। कभी-कभी जब वेश्या के यहाँ जाता हूँ।

आगन्तुक—हरे राम! तुम तो वेश्यागामी भी बन गये?

मित्र—वेश्याओं के यहाँ जाना, ऐसा मेरा कोई व्यसन नहीं है। जब कभी जुए में एकाएक धन आ जाता है तो वेश्या के यहाँ जाता हूँ।

आगन्तुक—हाय! हाय!! तुम तो जुआ भी खेलते हो। अब मैं समझ गया तुम्हारे में कोई बुराई बाकी नहीं रह पाई है।

मद्य-निषेध की मर्यादा अणुव्रती के लिये यहीं तक समाप्त नहीं है कि वह मद्य पीये नहीं, किन्तु किसी भी प्रसंग में वह किसी को पिलाये भी नहीं। समाज में यह एक सभ्यता मानी जाने लगी है, जैसा अतिथि वैसा ही उसका सत्कार। बहुत सारे लोग पीते नहीं पर घर पर कोई मद्य-पीनेवाला

बड़ा अतिथि आ जाता है तब उसके लिये व्यवस्था अवश्य करते हैं। ऐसा सोचा जाता है यदि उसके अनुकूल व्यवस्था नहीं हुई तो वह अप्रसन्न होगा। यह धारणा अयथार्थ है। समुचित शब्दों में स्थिति स्पष्ट कर देने पर बहुधा कोई भी अतिथि उसे बुरा नहीं मानता। बातचीत के प्रसंग में श्री मंगलदास पकवासा (भूतपूर्व राज्यपाल, मध्यप्रदेश व बम्बई) ने बताया—"जब मैं मध्यप्रदेश का गवर्नर था तब लार्ड माउण्टबेटन मेरे यहाँ अतिथि हुये। इससे पूर्व उनके सेक्रेटरी का एक पत्र आया था जिसमें उनकी अनुकूल व्यवस्थाओं का दिग्दर्शन था। ब्रांडी की व्यवस्था के लिये विशेष रूप से संकेत था। मेरे लिये यह एक समस्या थी। लिखे जाने पर भी घर आने वाले मान्य अतिथि की मैं व्यवस्था न करूँ? यह कैसा लगेगा? आखिर मैंने महात्मा गाँधी से इस विषय पर मार्गदर्शन माँगा। उन्होंने स्पष्ट लिखा—"जिस वस्तु को तुम बुरी समझते हो वही वस्तु मान्य अतिथि को कैसे दोगे?" मैंने सेक्रेटरी को उत्तर लिख दिया—आपके लिखे अनुसार सब व्यवस्थायें हो जायेंगी पर दुःख है कि मैं ब्रांडी की व्यवस्था नहीं कर सकूँगा, क्योंकि इसे मैं बुरी वस्तु मानता हूँ। वह मैं मेरे सम्माननीय अतिथि को दूँ, यह मुझे उचित नहीं लगता। अस्तु मेरे यहाँ लार्ड माउन्टबेटन तीन दिन ठहरे और मेरी सिद्धान्त प्रियता के लिये मुझे धन्यवाद दिया।" इस प्रकार जब व्यक्ति अपना नैतिक बल जागृत कर लेता है तो उसके मार्ग की कठिनाइयाँ अपने आप दूर हो जाती हैं। दूसरी बात अतिथि का खुश होना यह भी एक गौण बात है इससे भी पहली बात तो है सिद्धान्त का सुरक्षित रहना।

धूम्रपान आदि मानी हुई बुराइयाँ होते हुये भी समाज में ऐसा घर कर गयी है कि उनका मूलोच्छेद होना कष्ट साध्य हो गया है।

धूम्रपान

सुधारक-जन कभी-कभी तद्‌विषयक आन्दोलन करते हैं, कहीं-कहीं राजकीय मर्यादित प्रतिबन्ध भी होते रहते हैं किन्तु उन उपक्रमों की अपेक्षा व्यापारियों द्वारा किये जाने वाले विज्ञापन कहीं अधिक आकर्षक हुआ करते हैं। वे लोग राष्ट्र और समाज के हित की तनिक भी नहीं सोचते हुये हजारों और लाखों रुपये खर्च कर बीड़ी और सिगरेट का प्रचार करते हैं। कभी-कभी शहरों में देखा जाता है मोटरों और तांगों पर मय लाउडस्पीकर ग्रामोफोन बज रहा है, सैंकड़ों व्यक्ति खास कर बच्चे उसे चारों ओर से घेरे चल रहे हैं। बीच-बीच में एक व्यक्ति भाषण देकर अपनी बीड़ियों की श्रेष्ठता बतलाता है और बड़े-बड़े भपट-भपट कर मुफ्त की बीड़ियाँ उठाते हैं और पीते हैं। शायद सोचते हैं, इन बीड़ियों के पैसे थोड़े ही लगते हैं। पर उन्हें पता नहीं कि ये बिना मूल्य की बीड़ियाँ जीवन भर उनकी जेबों से पैसे निकलवाती रहेंगी। इस प्रकार किये जाने वाले बच्चों के उस दयनीय पतन को देख कर किसका हृदय रो न पड़ता होगा।

किसी भी बुराई का आना सहज और जाना कठिन है। कहा जाता है कि कोलम्बस की खोज के पूर्व इन देशों में बीड़ी या तम्बाकू का कोई नाम ही नहीं जानता था। सन् १४६२ में जब कोलम्बस ने "क्यूबा" टापू ढूंढ निकाला, उसने अपने कुछ साथियों को वहाँ के निवासियों का हाल-चाल जानने के लिये भेजा। उन्होंने वहाँ जाकर देखा—इधर

उधर बैठे बहुत से लोग मुँह और नाक से धुआँ निकालते हैं। उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और वस्तुस्थिति का ज्ञान किया। जाते समय कौतूहल के लिये कुछ व्यक्तियों को यूरोप ले गये। वहाँ के नक्लची उनकी नक्ल करने लगे। सन् १४९४ में कोलम्बस ने अमरीका की दुबारा यात्रा की और वहाँ की स्त्रियों को तम्बाकू सूँघते देखा। विनोद के तौर पर यहाँ की जातियों के लिये एक प्रिय वस्तु बनी। यूरोप से वह भारतवर्ष और एशिया के अन्य भू-भागों में आई। यह है तम्बाकू का इतिहास। बात-बात में आई, आज धक्के खाकर भी यहाँ से विदा नहीं लेती।

बीड़ी और सिगरेट भी एक खास व्यसन है। जो लग जाने के बाद छूटना कठिन हो जाता है पर असम्भव नहीं। धूम्रपान से मुक्ति पाने के कई प्रकार हैं। कुछ साहसिक लोग जो तीस-तीस, चालीस-चालीस वर्ष से बीड़ी-सिगरेट पीते हैं एकाएक उनका परित्याग कर देते हैं। ऐसे लोगों का कहना है—दश पाँच दिन हमारे जीव में कुछ बेचैनी रही उसके बाद तो अब याद ही नहीं आता कि हम कभी बीड़ी या सिगरेट पीते थे। दूसरा प्रकार यह है कि व्यक्ति जितनी बीड़ियाँ पीता है उससे वह कम करता जाये। इससे कुछ कष्ट भी नहीं होगा और बुराई भी छूट जायेगी। दोनों ही तरीके बहुत बार आजमाये गये हैं और सफलता मिली है। कुछ लोग कहते हैं—धूम्रपान में क्या दोष है? उनसे पूछना चाहिये—उसमें अच्छाई क्या है? अच्छाई उसमें कुछ नहीं है क्योंकि यह मनुष्य की खुराक नहीं है। जिसने कभी बीड़ी पी ही नहीं उसके दिल में बीड़ी पीने की कभी आती ही नहीं। एक बार जो कुसंसर्ग से बीड़ी पीना शुरू कर देता है तो वह

कैंसर पीछे लग जाती है जैसे कोई बड़ी बीमारी। अच्छाई न होना भी एक बात है। तम्बाकू के विषय में तो अभी-अभी बहुत बड़ी शोध हुई है और बताया गया है—कैन्सर जैसी असाध्य बीमारी का सबसे बड़ा कारण धूम्रपान है। आवश्यकता है जो लोग धूम्रपान के आदि हैं वे ऊपर बताये गये तरीकों से उससे मुक्ति पाने का प्रयत्न करें और जो आदि नहीं हैं वे धूम्रपान की आदत से बचे रहें।

बहुत बार धूम्रपान करने वाले लोग अपने बालकों को भी धीरे-धीरे उसका आदी बना देते हैं, यह बहुत बुरी बात है। पिता स्वयं धूम्रपान को नहीं छोड़ सकता, वह विवश है किन्तु यह तो उसका पहला कार्य है—अपने बालकों को इस दुर्व्यसन से बचायें। बालक जो बीड़ी पीना सीखता है, तो उसमें और भी बुरी आदतें आती हैं। बहुधा वह इस आदत को अपने साथियों से ग्रहण करता है। शिक्षक या मातापिता के द्वारा पूछे जाने पर वह झूठ बोलता है। धूम्रपान के लिये पैसों की जरूरत होती है तब वह चोरी करना सीखता है। चोरी और झूठ जहाँ आ जाते हैं वहाँ और अनेकों दुर्गुण आयेंगे ही, यह निश्चित है।

तम्बाकू की तरह भांग, गांजा, जर्दा आदि भी त्याज्य वस्तुयें हैं। अणुव्रती को खाने, पीने व सूंघने में इनका व्यवहार नहीं करना चाहिये।

जीवन के प्रत्येक पहलू में संयम अभीष्ट है। संयम का अभाव ही आधि-व्याधियों का मूल है।

आहार-संयम

जीवन-धारण के लिये मनुष्य खाता है, पर उस खाने में भी जब घोर असंयम आ जाता है तब लगता है मनुष्य ने खाने के लिये जीवन-

धारण किया है। आज आहारिक असंयम की वृद्धि अधिक लगती है। खाद्य-सामग्री के निर्माण में बहुत विकास हुआ है। मिठाई और चरपरे पदार्थों की अनगिन किस्में बन पड़ी हैं, किन्तु उस विकास में स्वास्थ्य का दृष्टिकोण नितान्त गौण रहा है और स्वाद का प्रमुख। सारा विकास इस आधार पर चला है कि किस पदार्थ का स्वाद कैसे बढ़ सकता है। मिर्च अधिक डालने से यदि स्वाद बढ़ता है तो वह डाली जाय, चाहे स्वास्थ्य के लिये वह कितना ही अहितकर हो। यही स्थिति घरों में है और यही बाजार में। मुँह का जायका बनाने वाली चीजें ही अधिकांशतया हलवाई और खूँचा वाले बनाते हैं। लोगों को न स्वास्थ्य का ज्ञान है और न संयम का। एक पाश्चात्य विचारक ने ठीक कहा है—"लोग जितना खाते हैं उसका एक तिहाई उनके काम लगता है और दो तिहाई डाक्टरों के।" एक साधक के जीवन में आहार का विवेक आवश्यक है। यह कहावत नितान्त निराधार नहीं है "जैसा खाये अन्न वैसा होवे मन।" आधुनिक और प्राक्तन स्वास्थ्य-विज्ञान से भी यह तथ्य सम्मत है। खाद्य-सामग्री का सम्बन्ध शरीर के अन्य अवयवों की तरह मन और मस्तिष्क से भी है। शरीर में राजसी, तामसी जैसे पदार्थों का प्रभाव बढ़ेगा, मन भी उससे प्रभावित होगा ही। शास्त्रकारों ने इसी दृष्टि से ब्रह्मचारी के लिये खानपान का संयम अनिवार्य माना है। महात्मा गांधी ने भी इस विषय पर अधिक बल दिया है। उन्होंने अपने सात व्रतों में अस्वाद को भी एक स्वतन्त्र व्रत माना है। अस्तु-अणुव्रती एक साधक है। उसके जीवन में आहार का संयम अत्यन्त आवश्यक है। वह जीवन और भोजन के सम्बन्ध को विवेकपूर्वक समझे और इस सम्बन्ध से समस्त अवाञ्छनीय

प्रवृत्तियों से यथासम्भव ऊपर उठता रहे। प्रश्न रहता है, संयम कैसे रखे? संसार में खाने योग्य सहस्रों पदार्थ हैं। यह बड़ा कठिन है कि उन सबके भक्ष्याभक्ष्य-विचार की कोई सुनिश्चित तालिका बन जाये। आहार-संयम की दृष्टि के लिये अणुव्रती का विवेक जागृत हो, यही अधिक अपेक्षणीय है। फिर भी इस दिशा में कुछ ऐसे अनुभूत मार्ग हैं जो सबकी प्रकृति से सूत्र-रूप में हो सकते हैं। जैसे खाद्य-पेय-द्रव्यों का संख्या परिमाण। स्वाद के हेतु ही बहुधा पदार्थों की संख्या बढ़ती है, उस पर जब नियंत्रण हो जाता है तो अवश्य बहुत कुछ संयम का मार्ग सधता है। अणुव्रती खाने-पीने की वस्तु की दैनिक मर्यादा रखे। किसी भी दिन २१ से अधिक द्रव्य तो वह खाये ही नहीं। २१ की संख्या एक मझोली संख्या है। जो व्यक्ति पाँच प्रकार के फल खा लेते हैं, पाँच-सात प्रकार की सब्जी (शाक) खा लेते हैं, दो-चार प्रकार की मिठाई, पाँच-सात प्रकार की खटाई और पानी, रोटी, दूध, चाय से लेकर चार बार के नाश्ते व भोजन में बीसों पदार्थ खा लेते हैं, उनकी आदत में यह संख्या एकाएक बहुत संकोच ला देती है, पर अणुव्रती यह ध्यान रखे २१ की संख्या पर्याप्त नहीं, उत्कृष्ट है। अधिकांश व्यक्ति तो ऐसे मिलेंगे जिनके इतने द्रव्य एक दिन में खाने का कोई वास्ता ही नहीं पड़ता। वे अपनी स्थिति से यथासम्भव न्यूनत्व करें। आहार-संयम के और भी नाना मार्ग हैं। द्रव्य-संख्या के नियमन की तरह भोजन-संख्या का नियमन भी इस दिशा में महत्त्वपूर्ण होता है। अर्थात् दिन में एक बार या दो बार से अधिक नहीं खाऊँगा, मिठाई नहीं खाऊँगा, चरपरे, फरफरे आदि तामसिक पदार्थ नहीं खाऊँगा, आदि।

खाद्य-पेय-पदार्थों के नियन्त्रण में एक उलझन रहा करती है, द्रव्य किसे कहा जाय और उसका संख्या क्रम कैसे माना जाय? अणुव्रतियों के लिये इस विषय में एकसूत्रता रहे इसलिये आन्दोलन के प्रवर्तक आचार्य श्री तुलसी ने एक परिभाषा निश्चित कर दी है जो नीचे दी जाती है:—

खाद्य-पेय-द्रव्य-परिभाषा

(१) स्वतन्त्र नाम स्वतन्त्र द्रव्य का सूचक है। जैसे—दूध, दही, चावल, चीनी, शक्कर आदि।

(२) किसी नाम के साथ कोई ऐसा नाम संयुक्त होता हो जो उस पदार्थ का मूल कारण हो और उसे वह अन्य पदार्थों से पृथक् करता हो तो वह शब्द संयुक्त नाम स्वतन्त्र द्रव्य है, जैसे—बाजरे की रोटी, गेहूँ की रोटी, मूँग का पापड़, मोठ का पापड़, आम का पापड़ आदि। अर्थात् रोटी उन सामान्य नामों के होते हुवे भी पूर्व संयोजित शब्द के कारण उपर्युक्त एक-एक स्वतन्त्र द्रव्य है।

स्पष्टीकरण:—नियम नं० २ की परिभाषा में गाय का दूध और भैंस का दूध, कुँए का पानी और बरसात का पानी पृथक्-पृथक् द्रव्य होते हैं तथापि व्यावहारिकता को ध्यान में रखते हुये ये एक ही द्रव्य माने गये हैं अर्थात् उक्त प्रकार का दूध एक द्रव्य, उक्त प्रकार का पानी एक द्रव्य।

(३) जिस नाम के साथ ऐसा विशेषण लगता हो जो संस्कार, भेद का सूचक हो, वह नाम अपने विशेषण सहित स्वतन्त्र द्रव्य है जैसे—लूखी रोटी, चुपड़ी रोटी, सेका हुआ पापड़, तला हुआ पापड़, मिर्च लगाया पापड़, फीके चावल, मीठे चावल आदि।

(४) जो दो द्रव्य मिलाकर स्वभावतः खाये जाते हैं किन्तु उनके मेल से कोई नई संज्ञा नहीं बनती तो वे सब पृथक्-पृथक् द्रव्य हैं। जैसे—घी-खिचड़ी, घी-चीनी-बाट, दूध-चीनी, दाल-चावल आदि।

(५) दो या बहुत द्रव्य मिलकर यदि एक व्यावहारिक संज्ञा को धारण कर लेते हैं तो वह एक संज्ञा (नाम) एक द्रव्य है। जैसे—खीर, आमरस, मेवे की खिचड़ी, चूरमा, पान, शाक आदि।

स्पष्टीकरण—द्रव्य घटाने की दृष्टि से यदि कोई अस्वाभाविक मेल मिलाया जाता है तो वे द्रव्य पृथक्-पृथक् माने जायेंगे। जैसे—खिचड़ी में सुपारी।

(६) सजातीय फलादि एक द्रव्य हैं। जैसे—कलमी आम, लंगड़ा आम, मीठा पान, मगई पान।

(७) किन्हीं दो पदार्थों का मूल तत्व एक है फिर भी आकार या संस्कारादि भेद से नाम भिन्न-भिन्न हैं तो वे सब स्वतन्त्र द्रव्य हैं जैसे—चीनी, मिश्री, बतासा, मावे का पेठा, मावे का पेड़ा, बून्दिया, बून्दिया का लड्डू, पूड़ी, फुलका, टिकड़ा, रोटी आदि।

सर्व-धर्म-तितिक्षा

युग का आह्वान

आज क्रान्ति व चेतना का युग है। हर एक समाज, राष्ट्र जाति व धर्म में उत्क्रान्ति के आसार नजर पड़ते हैं। सारे संसार में कोई विरला ही वर्ग मिलेगा जो आज भी निश्चेतन बनकर सोया होगा। जिस वर्ग में आलस्य था आज वहाँ कर्मण्य-भाव दीखता है, जिस वर्ग में कलह था

वहाँ आज एकय-योजनायें सफल हो रही हैं। आज मजदूर, किसान आदि छोटे माने जाने वाले लोग तथाकथित बड़ों की अपेक्षा अधिक संगठित हैं। धार्मिक वर्ग में भी एक नई चेतना और स्फूर्ति दीख पड़ती है, जो उन्हें समन्वय व तितिक्षा की दिशा में ला रही है। यह हर्ष का विषय है पर इस विषय में अब तक सन्तोषप्रद प्रगति नहीं हुई है। इसका कारण है—बद्धमूल संस्कारों की प्रबलता।

भूतकाल के विकट अनुभव

एक युग था जिसमें सत्यासत्य के निर्णय के लिये विभिन्न धर्मों में शास्त्रार्थ हुआ करते थे। उसका आदि दृष्टिकोण तो यही होगा कि "वादे-वादे जायते तत्वबोधः।" अर्थात् वाद-विवाद से ज्ञान वृद्धि होती है किन्तु आगे चलकर इस प्रवृत्ति से विभिन्न धर्मों के बीच में असहिष्णुता का भाव बहुत बढ़ गया और लोगों के मुँह से ऐसी उक्तियाँ निकलने लगीं—"हस्तिना ताड्यमानोपि न गच्छेज्जैन मन्दिरम्" अर्थात् गली छोटी है, सामने से मदोन्मत्त हाथी आ गया है और वह मारने को उद्यत है, एक ओर जैनमन्दिर का दरवाजा खुला है तो हाथी के सामने होना श्रेयस्कर है पर जैनमन्दिर में नहीं जाना चाहिये। अस्तु-यह असहिष्णुता वाचिक ही न रहकर ज्वलन्त हिंसा के रूप में भी कभी-कभी परिणत होती रही है। प्राचीन ग्रन्थों में यहाँ तक के भी प्रामाणिक उल्लेख मिलते हैं:—

"आसेतुतुषाराद्रे बौद्धानां वृद्धबालकम् ।
न हन्ति यः स हन्तव्य इत्येव मादिशन् नृपः ॥"

"हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक बौद्ध बालकों एवं वृद्धों का जो हनन नहीं करता वह स्वयं हन्तव्य है।" लगता

है विरोधी धर्मों के प्रति असहिष्णुता का भाव जनता में भी कूट-कूट कर भर गया था। वैदिक धर्म ब्राह्मण प्रधान था, जैन और बौद्ध श्रमण कहलाते थे। श्रमण और ब्राह्मण में संघर्ष स्वाभाविक हो ऐसा मान लिया गया था। व्याकरणाचार्यों ने जहाँ "नित्य वैरी" शब्दों के समास का उल्लेख किया वहाँ "अहिनकुलौ" "मार्जारमूषिकौ" की तरह "श्रमण-ब्राह्मणौ" का उदाहरण भी दिया। वहाँ यह माना गया सर्प और नकुल की तरह, बिल्ली और चूहे की तरह, श्रमण और ब्राह्मण भी परस्पर शाश्वत वैर वाले हैं।

यही स्थिति तो भारतवर्ष के प्रमुख धर्म वैदिक, जैन और बौद्ध में रही। पश्चिम जगत् की ओर जब हम निगाह डालते हैं, वहाँ तो धर्म के नाम पर मानवता की और भी विडम्बना है। जहाँ ईसा ने उपदेश दिया—"जो आदमी तुम्हारे एक गाल पर चांटा लगाये उसके सामने दूसरा भी करदो।" वहाँ प्रोटेस्टेन्ट और कैथोलिक नामक एक ही ईसाई धर्म के दो सम्प्रदायों में जो हिंसा की बर्बर होली खेली गई, इतिहास के रक्तरंजित पृष्ठ आज भी उसकी गवाही भरते हैं। जीवित आदमियों को जलाया गया, नाना षड्यन्त्र खेले गये और नाना युद्धों से पृथ्वी लोहू लुहान हुई। तलवार के बल पर अपना धर्म फैलाने वाले लोग भी संसार में आये। उन्होंने कहा—"हमारा धर्म तर्क में नहीं, तलवार में है।" सिकन्दरिया का विश्व प्रसिद्ध पुस्तकालय जलाया गया। उसमें लगभग दस लाख पुस्तकें थीं। एक-एक पुस्तक की कीमत ऊपर में साढ़े चार हजार रुपये की थी। खलीफा उमर ने कहा—यदि ये पुस्तकें कुरान के अनुकूल हैं तो भी जरूरी नहीं, क्यों कि कुरान मौजूद है ही। यदि ये कुरान के

प्रतिकूल हैं तो मिथ्या हैं, लोगों को अज्ञान देती हैं अतः ये बिना जरूरी हैं। तत्पश्चात् सारी पुस्तकें पाँच हजार रसोइयों को बाँट दी गईं, जो छः महिने तक ईंधन के रूप में जलाई गईं। दूर क्यों जायें, स्वतन्त्र भारतवर्ष का पहला अध्याय भी हिन्दू-मुसलमानों की दुर्दम हिंसा के अक्षरों में लिखा गया है। वह रौद्र दृश्य भुलाया नहीं जा सकता। स्त्रियों को नग्न कर उनके जुलूस निकाले गये, बड़े-बड़े परिवारों को जीवित जलाया गया, तोड़-फोड़ हुई, लूट-खसोट हुई। अस्तु-भूतकाल के इन विकट अनुभवों की एक लम्बी परम्परा है जो धर्म के लिये ही नहीं, मानवता के लिये भी अभिशाप बनी है। आज केवल उस पर पश्चाताप करने का युग नहीं, प्रत्युत उस प्रकार के सात्विक प्रयत्नों का युग है जिनसे वह परम्परा दुहराई न जाये और न उसमें कोई नई कड़ी जुड़े।

दोष किसका?

प्रश्न उठता है इन सब धार्मिक असहिष्णुताओं के पीछे दोष किसका है? धर्म-प्रवर्तकों का या धर्म-शास्त्रों का? दोष है मनुष्य के अज्ञान व व्यामोह का। धर्म-शास्त्रों व धर्म-प्रवर्तकों ने कहीं भी ऐसा कहा हो, ऐसा नहीं लगता। महाभारत में लिखा है—"दूसरे धर्म को बाधित करने वाला धर्म, धर्म ही नहीं है, वह तो कुमार्ग है।"[1] शास्त्र स्वयं अर्थ बोलते नहीं इसलिये साम्प्रदायिकता को पुष्ट करने के लिये लोग कभी-कभी अर्थ का अनर्थ भी कर देते हैं। कहते हैं

१—धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुवर्त्मतत्।
अविरोधात् तु यो धर्मः सधर्मः सत्य विक्रमः॥
—महाभारत वन पर्व १३१—११.

गीता में लिखा है—"अपने धर्म में मर जाना अच्छा है पर पर-धर्म भयावह होता है।"[1] ज्ञान अवश्य गीता का है पर जो इसका साम्प्रदायिक अर्थ किया जाता है वह अर्थ का अनर्थ है। स्व-धर्म—आत्म-धर्म-अहिंसा, सत्य आदि। पर-धर्म—पार्थिव पदार्थ व काम क्रोधादि। इस स्व-धर्म में निधन श्रेय है और भोग-विलास के हेतु जड़-पदार्थ व काम-क्रोधादि भयावह हैं। उक्त कथन का पूर्वापर के प्रसंग को देखते हुये यही अर्थ संगत है। विभिन्न विद्वान आचार्यों ने विभिन्न प्रकार से उक्त अर्थ की संगति बताई है पर साम्प्रदायिक अर्थ किसी भी टीकाकार ने स्वीकार नहीं किया है। शास्त्रकारों ने तो स्थान-स्थान पर सत्य की शोध पर बल दिया है, विरोधियों के युक्त पक्ष को स्वीकार करना बताया है। एक ऋषि कहते हैं—"महिपाल! विरोधी धर्मों में से भी लाघव और गौरव का विवेक कर, जहाँ बाधा न हो, उसी धर्म का आचरण करें।"[2] ईसा ने क्षमा धर्म को सबसे उत्तम बताया—एक के स्थान पर दो चाँटा खाने की शिक्षा दी।[3] कुरान में मुहम्मद साहब ने कहा है—"तेरा धर्म तेरे लिये, मेरा धर्म मेरे लिये।" "खुदा झगड़े को पसन्द नहीं करता।"[4] जैन व बौद्ध शास्त्र तो अहिंसा से भरे ही हैं। भगवान् महावीर का उपदेश है—"प्राणी मात्र में मैत्री रख।"[5] महावीर के

१—स्वधर्मे निधनं श्रेयः, परधर्मो भयावहः।

२—विरोधिषु महीपाल! निश्चित्य गुरुलाघवम्।
न बाधा विद्यते यत्र, तं धर्मं समुपाचरेत्॥

३—लंकुम दीन कुम व लो दीनी।

४—अल्ला हुला मुहिब्बुल्लफसाद।

५—मेत्तिं भूएसु कप्पए।

उत्तरवर्ती आचार्यों ने भी यही स्तुतियाँ गाई हैं—"वीर में मेरा पक्षपात नहीं है और कपिल में द्वेष नहीं है। युक्त वचन जिसका है वह ग्राह्य है[1]।" "भव-भ्रमण के हेतु राग व द्वेष जिन आत्माओं के क्षय हो गये हैं उन्हें मेरा प्रणाम है चाहे वे ब्रह्मा हैं, विष्णु हैं महादेव हैं या जिन हैं[2]।" मुक्ति की मीमांसा करते हुये उन्होंने बताया—"मुक्ति न श्वेताम्बरत्व में है, न दिगम्बरत्व में है, न तर्कवाद में है और न तत्ववाद में, कषायों से मुक्ति ही स्वयं मुक्ति है[3]।" अस्तु—लगभग सभी धर्म-शास्त्रों में धर्म को दो वस्त्रों को जोड़ने वाली सुई की तरह बताया पर लोगों ने उससे एक वस्त्र के दो टुकड़े करने वाली कैंची का काम लिया।

इस विषय में इतना परिष्कार तो अपेक्षित है ही कि अपने मत-प्रचार में दूसरों के प्रति आक्षेप व छींटाकसी न की जाय। किसी व्यक्ति को प्रलोभन, भय आदि से प्रभावित कर उसका धर्म-परिवर्तन न किया जाय, न कोई दूसरे धर्म में जाता हो तो उक्त प्रकार से उसे अपने धर्म में रखने को विवश किया जाय। भारतवर्ष में क्रिश्चियन मिशनरियों का कार्यक्रम एक समस्या बन गया है। लोग आतुर भी हो उठे हैं कि उनके प्रचार को कैसे रोका जाये। बहुत सारे लोग राज्य सत्ता को भी प्रेरित करते हैं कि वह उन पर प्रतिबन्ध

१—पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः।

२—भवबीजाङ्कुरजनना, रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा, हरो जिनो वा नमस्तस्मै।

३—श्वेताम्बरत्वे न दिगम्बरत्वे, न तर्कवादे न च तत्ववादे।
न पक्षपाताश्रयणेन मुक्तिः, कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव।

लगाये या उन्हें भारतवर्ष में आने ही न दिया जाये। भारतवर्ष एक असाम्प्रदायिक राज्य (Secular State) है। हर एक व्यक्ति को धर्म-प्रचार की स्वतन्त्रता है। लोग क्रिश्चियनों पर व सरकार पर कुढ़ते हैं पर इस बात का ध्यान नहीं देते कि लोग क्रिश्चियन बनते क्यों हैं? समस्या का वैध समाधान यही रह जाता है—भारतीय लोग भी अपने धर्मों के प्रति जन-जन के मन में होने वाले अनादर को न होने दें। क्रिश्चियन लोग अपने धर्म से लोगों को प्रभावित करते हैं। क्या भारतीय धर्मों में वह तेजस्व नहीं है कि वे उन्हें अपनी ओर आकर्षित रख सकें। स्थिति यह है कि लोग धर्म-हानि का नारा तो लगा देते हैं पर धर्म-रक्षा के लिये करते कुछ भी नहीं। हाँ, धर्म-परिवर्तन के लिये जो अनैतिक व अवैध उपाय यदि किसी भी धर्म के द्वारा काम में लिये जाते हैं तो अवांछनीय है और उन्हें रोकने का तो शासन-व्यवस्था में भी विधान है।

साम्प्रदायिक मैत्री के पाँच सूत्र

विभिन्न मत-भेदों के रहते हुये भी सब धर्मों में मैत्री और सहिष्णुता कैसे रह सके, इसके लिये अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक आचार्य श्री तुलसी ने पाँच सूत्र प्रस्तुत किये हैं जिनमें सर्वधर्म-तितिक्षा का मार्ग समग्र रूप में प्रस्तुत हो गया है। वे सूत्र निम्न रूप में हैं:—

१—मण्डनात्मक नीति बरती जाये। अपनी मान्यता का प्रतिपादन किया जाये। दूसरों पर मौखिक या लिखित आक्षेप न किये जायें।

२—दूसरों के विचारों के प्रति सहिष्णुता रखी जाये।

३—दूसरे सम्प्रदाय और उसके साधु सन्तों के प्रति घृणा और तिरस्कार की भावना का प्रचार न किया जाये।

४—कोई सम्प्रदाय-परिवर्तन करे तो उसके साथ सामाजिक बहिष्कार आदि के रूप में अवांछनीय व्यवहार न किया जाये।

५—धर्म के मौलिक तथ्य अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को जीवन व्यापी बनाने का सामूहिक प्रयत्न किया जाये।

भेद-दर्शन से अभेद-दर्शन की ओर

मनुष्य की बुद्धि जब भेद-दर्शन पर केन्द्रित होती है तब अलगाव बढ़ता है, अपने सगे भाई में उसे दूरत्व लगता है। वह सोचता है—मैं बड़ा भाई हूँ, वह छोटा है। वह गरीब है मैं धनी हूँ, वह अशिक्षित है मैं शिक्षित हूँ आदि। इस भेद-दर्शन की वृत्ति से अपने में एक अहम् पैदा होता है जिससे दूसरे के प्रति अप्रेम बढ़ता है। जहाँ अभेद-दर्शन होगा, एक भिखारी को भी देखकर मनुष्य सोचेगा—वह भी मेरे जैसा एक मनुष्य है, हाथ, पैर, कान, आँख उसके और मेरे बराबर हैं। हम दोनों एक देश के हैं, एक ही शहर में रहते हैं और एक ही मुहल्ले में। इस प्रकार वहाँ एकत्व बढ़ता है, दोनों पक्ष एक दूसरे के निकट होते हैं। धर्म-सम्प्रदायों के बीच अब तक एक दूसरे को समझाने में भेद-दर्शन की प्रमुखता रही है। जिस-जिस धर्म के बीच जो नहीं मिलने वाली बातें थीं उन्हें ही आगे रखकर शास्त्र-निर्णय से लेकर शस्त्र-निर्णय तक लोग पहुँचते रहे हैं। इस दृष्टिकोण से कटुता बढ़ी और कालुष्य बढ़ा। आज का युग अभेद-दर्शन का है। नाना विरोधों के रहते

हुये भी अभेद-दर्शन के द्वारा लोग एक दूसरे के निकट होते जा रहे हैं। सबसे ज्वलन्त विरोध आज के युग में वाद-प्रवादों का माना जाता है। साम्यवाद, समाजवाद, पूंजीवाद आदि एक दूसरे के विरोधी वाद हैं। विभिन्न देशों में शासन-व्यवस्था भी विभिन्न वादों के आधार पर चलती है। अपने-अपने वाद को संसार भर में फैलाने का आग्रह भी सबमें दीखता है, फिर भी संसार का मर्यादित सन्तुलन रखने के लिये "संयुक्त राष्ट्र संघ" नामक संस्था का उदय हुआ है। उस संस्था में रूस और अमेरिका जैसे परस्पर विरोधी माने जाने वाले राष्ट्र भी सम्मिलित हैं। वे सब भेद की उपेक्षा कर अभेदमूलक बातों के लिये एक साथ बैठकर संसार भर की स्थिति में सन्तुलन बनाये रखने का प्रयास करते हैं। इससे भी विशेष बात यह है, आज सारे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अनाक्रमण, सह अस्तित्व आदि पंचशील का नारा गूंजा है। सह अस्तित्व का भी यही अर्थ है, भेद के रहते हुये भी अभेद के आधार पर हम साथ रह सकें। धार्मिक क्षेत्र में तो आज अभेद-दर्शन की ओर भी आवश्यकता है। विभिन्न सम्प्रदायों के व्यवहार में जब अभेद-दृष्टि का उदय होगा तो भेदमूलक बातों की उपेक्षा होगी और अभेदमूलक बातों पर सबकी दृष्टि लगेगी। सच बात तो यह है विभिन्न धर्मों के बीच भेदमूलक बातें तो लगभग पाँच प्रतिशत हैं और अभेदमूलक पिच्यानवें प्रतिशत। यह क्यों जरूरी है कि मनुष्य पिच्यानवें प्रतिशत की उपेक्षा कर पाँच प्रतिशत को महत्त्व दे। समन्वय और सामंजस्य इस बात में है और स्वाभाविक भी यही है। नहीं मिलने वाली पाँच प्रतिशत बातों की परस्पर के व्यवहार में उपेक्षा की

जाय और मिलने वाली पिच्यानवें प्रतिशत बातों को महत्त्व दिया जाय, यह है भेद से अभेद निकालने का मूल मन्त्र। पांच अंगुलियाँ अपना-अपना पृथक् अस्तित्व रखती हैं, उनका अपना-अपना काम है पर आवश्यकता पड़ने पर पाँचों मिलकर बड़े से बड़ा काम सम्पादित करती हैं। पृथक् स्वरूप में वे एक दूसरे से निरपेक्ष हैं पर वे परस्पर लड़ती नहीं हैं, क्योंकि वे कलाई रूप सह अस्तित्व के बन्धन में हैं। पारस्परिक व्यवहार के लिये यही मार्ग सब धर्मों के लिये प्रशस्त है।

धर्म-प्रचार और धर्म-परिवर्तन

धार्मिक सह-अस्तित्व में सबसे बड़ी यदि कोई बाधा है तो वह धर्म-प्रचार व धर्म-परिवर्तन की है। हर एक धर्म अपना प्रचार चाहता है और अपने अनुयायी भी बनाता है। एक धर्म के लोग दूसरे धर्म में जाते भी रहें और परस्पर सहिष्णुता भी बनी रहे, यह एक कसौटी है जिस पर बहुत थोड़े लोग खरे उतर सकते हैं। तो क्या विभिन्न धर्मों के बीच प्रेम बनाये रखने के लिये धर्म-प्रचार और धर्म-परिवर्तन बन्द हों? यह समस्या का समाधान तो अवश्य है पर यथार्थ नहीं। विचार-स्वतन्त्रता मनुष्य का जन्म सिद्ध अधिकार है और धार्मिक स्वतन्त्रता तो उससे भी अधिक। आज के विकासशील सभी देशों में धर्म-प्रचार व धर्म-परिवर्तन वैध माना जाता है। रूस जैसे साम्यवादी देश के विधान में भी धर्माचरण और धर्मोपासना की प्रत्येक व्यक्ति को छूट दी गई है। अस्तु—धार्मिक स्वतन्त्रता विकासशील समाज की आज पहली बात है। प्रश्न यही अवशेष रहता है धर्म-प्रचार व धर्म-परिवर्तन को क्षमता

देते हुये धार्मिक सहिष्णुता की बात कैसे चल सकती है ? समाधान इतना कठिन नहीं है जितना सोचा जाता है। जीवन के ऐसे अनेक प्रसंग हैं जिनमें स्वार्थ टकराते हैं पर मनुष्य धैर्य नहीं खोता। एक ही बाजार में सैकड़ों दुकानदार बैठते हैं। अपने-अपने माल का विज्ञापन करते हैं। ग्राहक चाहे जिसकी पेढ़ी चढ़ जाये। दुकानदारों के अपने-अपने आस्थावान ग्राहक भी होते हैं। कभी-कभी वे भी बदल जाते हैं। उस स्थिति में चतुर दुकानदार अपना आत्मान्वेषण करता है कि मेरे ग्राहक को मेरे प्रति असन्तोष पैदा क्यों हुआ ? न कि उस दुकानदार के ऊपर कीचड़ उछालता है, जिसके यहाँ अपना ग्राहक चला गया और न उस ग्राहक को भी वह बुरा भला कहता है। यही स्थिति विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों के बीच भी सामंजस्य रख सकती है।

रेशम का व्यवहार

रेशम का व्यवहार न किया जाय, इसके मूल में दो दृष्टिकोण हैं—अहिंसा और सादगी। यह सर्वविदित तत्त्व है कि रेशम कीड़ों से निष्पन्न होता है और अत्यन्त हिंसा-परक है। यद्यपि रेशम का व्यवहार सभी सभ्य समाजों ने अपना रखा है और वह भी लम्बी अवधि से। तब भी समाज में धनी-मानी एवं प्रतिष्ठित जन ही इसका अधिक प्रयोग करते हैं। रेशम का प्रयोग समाज में अनैतिक नहीं माना जाता प्रत्युत मांगलिक कार्यों में उसका अधिक उपयोग होता देखा जाता है। अस्तु—आज तक की जो भी स्थिति रही हो, अब भी हम इस विषय में कुछ भी सोचने के लिये स्वतन्त्र हैं। अहिंसा की दृष्टि से यदि हम विचार करते हैं, हमें यह मानना होता है कि प्राणी-जगत् के बीच मानव-

समाज सदा ही स्वार्थपरक रहा है। वह प्राणीवाद पर न चल कर मानववाद पर ही चल रहा है। वह पशुओं की रक्षा करता है अपने स्वार्थ के लिये, उनका वध करता है अपने स्वार्थ के लिये। यहाँ आकर तो उसकी स्वार्थपरता की हद ही हो जाती है, जब कि वह अपने तुच्छतम स्वार्थ के लिये भी अगणित जंगम प्राणियों के विनाश को आवश्यक और व्यावहारिक मान बैठता है। रेशम का भी एक ऐसा ही प्रसंग है। रेशम मानव-समाज के लिये जितना एक सुखद सामग्री के रूप में माना जा सकता है, उतना आवश्यक सामग्री के रूप में नहीं। यह ठीक है कि वह कोमलता, भव्यता आदि गुणों से वस्त्रोपयोगी सामग्री में सर्वोत्कृष्ट है, किन्तु यह नहीं माना जा सकता कि मानव-जाति के लिये उसकी अनिवार्यता है। कतिपय पाश्चात्य देशों में परों को भी सुन्दरता का प्रतीक मान लिया गया है। लाखों पक्षी मानव-समाज की सौन्दर्य-पिपासा पर बलिदान होते हैं। सुना जाता है कि इंगलैण्ड के एक व्यापारी ने एक वर्ष में तीस लाख उड़ने वाले पक्षियों का केवल परों के लिये वध किया। फ्रांस में तो उस प्रकार के पक्षियों की नस्ल ही नष्ट हो गई है। मानव अपने नगण्य स्वार्थ के लिये कितना निर्दय हो जाता है!

इत्यादि दृष्टिकोणों के आधार पर यह आवश्यक माना गया है कि उस दिशा में अणुव्रती पहल करे। यह सच है कि असीम काल से चलने वाला यह रेशम का व्यवहार एकाएक समाज से दूर नहीं हो सकता, फिर भी समाज में एक अहिंसात्मक दृष्टिकोण तो पैदा होता ही है। सम्भवतः वह किसी समय अनुकूल स्थिति पाकर पूर्णतः विकसित भी हो सके।

निपण राष्ट्रों के व्यवहार में उसे यह सन्तोष मिलता है कि मेरा पैसा मेरे देश में ही रहा। अणुव्रती का आदर्श तो "वसुधैव कुटुम्बकम्" का है। उसका आदर्श यह नहीं कि मेरे देश का व्यक्ति मेरा मित्र और दूसरे देश का अमित्र। अणुव्रत-आन्दोलन में जो वस्त्र-व्यवहार के लिये स्वदेश की मर्यादा है वह स्व और पर के व्यामोह को बढ़ाने की दृष्टि नहीं रखती क्योंकि अणुव्रत-आन्दोलन का ध्येय मानव-मानव के बीच में आने वाले समस्त भेदों को मिटाने का है। वहाँ तत्त्व यह है—वस्तु विशेष की निष्पत्ति के लिये लाखों मिलें चलती होंगी जहाँ बड़ी से बड़ी हिंसा अनिवार्य है। जो गृहस्थ व्यक्ति उन सब मिलों के वस्त्र का परित्याग नहीं करता है वह किसी न किसी रूप में उस हिंसा से सम्बन्धित है ही। उक्त प्रकार की मर्यादा से वस्त्र विशेष के लिये अपने देश के बाहर होने वाली विश्व भर की हिंसा से उसका सम्बन्ध टूट जाता है।

जीवन में सन्तोष और सादगी को बढ़ाना भी उक्त मर्यादा का एक प्रमुख हेतु है। विभिन्न प्रकार के वस्त्रों का उपयोग अधिकतर फैशन के लिये होता है। हर एक व्यक्ति चाहता है—मैं वही वस्त्र खरीदूँ जिसका सुन्दर रंग व सुन्दर डिजाइन है। उक्त मर्यादा से वह लालसा सीमित होकर अपने देश की परिधि तक ही रह जाती है।

मर्यादा की आध्यात्मिकता इससे भी पुष्ट होती है कि यह मर्यादा केवल भारतवासियों के लिये ही नहीं, जहाँ से आन्दोलन आरम्भ हुआ है। दूसरे देशों के अणुव्रतियों के लिये भी अपने-अपने देश के अर्थ में उक्त मर्यादा लागू होती है।

प्रश्न हो सकता है—वस्त्र विशेष के लिये ही यह मर्यादा क्यों? विदेश निर्मित अन्य वस्तुओं के उपयोग से भी व्यक्ति आरम्भ और लालसा बढ़ाता है। आरम्भ और लालसा को घटाना अणुव्रतों का परम ध्येय है किन्तु मानवीय दुर्बलताओं के कारण जो तथ्य व्यवहार्य होता है उसे ही व्यक्ति पहले अपनाता है।

देश-मर्यादा लालसाओं को सीमित करने की एक दृष्टि देती है। वह वस्त्र की तरह अन्य वस्तुओं के लिये भी की जा सकती है और की जानी चाहिये। वस्त्र के लिये देश की तरह अपने प्रान्त व अपने नगर की भी मर्यादा हो सकती है। आगे चलकर विशिष्ट अणुव्रती के स्तर पर पहुंचने वाले व्यक्ति के लिये मिल के बने वस्त्रों का सम्पूर्ण परित्याग भी आवश्यक हो जाता है।

असद् आजीविका

व्यक्ति जीवन व्यवहार के लिये किसी न किसी प्रकार की आजीविका का आलम्बन लेता है। बहुत से व्यक्ति अपने कुलगत व्यवसाय में ही चलते रहते हैं। मच्छीमार का बेटा भी मछली मारने का ही व्यवसाय करता है, कसाई का बेटा कसाई खाने का ही। यहां संस्कारों का प्रभुत्व रहता है। यह स्वाभाविक है मनुष्य को जिस व्यवसाय का अभ्यास हो जाता है उसे एकाएक छोड़ नहीं सकता, क्योंकि उसमें योग्यता और साहस की बहुत अपेक्षा रहती है, फिर भी आजीविका निर्वाचन का प्रश्न उपेक्षा का नहीं होता। एक ही आजीविका जब मनुष्य को चुननी है तो कोई भी विवेकशील व्यक्ति असद् आजीविका क्यों चुने?

मद्य का व्यापार

बहुत प्रकार की आजीविकायें ऐसी हैं जो व्यक्तिगत जीवन के लिये तथा समाज व देश के लिये भी अहितकर होती हैं। जैसे—मद्य का व्यापार। इस व्यापार में कितनी अनैतिकता है, यह यहाँ नहीं बताना है क्योंकि मद्य का तो व्यापार मात्र ही अनैतिक है। मद्य का व्यापारी अपनी आजीविका के लालच में देश और समाज के साथ क्या करता है, यह किसी से छिपी बात नहीं है। यह ठीक है कि प्रायः वह राज्य से ठेका लेकर के ही ऐसा व्यापार चलाता है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि राज्य ने इस व्यापार को कोई महत्त्व दिया है। राजकीय दृष्टि देखा तो लगता है—यह बुराई का व्यापार व्यापक न रहे, यथासम्भव यह अधिक से अधिक सीमित बने। सारे शहर की एकत्रित बुराई के लिये आदमी कहे कि मैं उसका ठेकेदार हूँ, यह कैसा अजीब बात है?

जुआ और घुड़दौड़

पुराने ज़माने की बात है—लोग मानते थे परिश्रम ही पैसा पैदा करता है। आदमी को परिश्रम करके ही अपनी आजीविका चलानी चाहिये। आजकल कुछ लोग सोचने लगे हैं, पैसे के लिये परिश्रम की क्या आवश्यकता है? जुआ खेलो, घुड़दौड़ खेलो, यदि भाग्य में है तो पैसा अपने आप आ पड़ेगा। यह वृत्ति दिनोंदिन बढ़ती नजर आ रही है, पर इसका परिणाम देश और समाज के लिये बड़ा घातक है। एक बार तो युवक इस धन्धे में फंस जाता है, बहुधा वह निकल नहीं सकता। एक बार जिसने जुए या रेस से पैसा कमा लिया और उस पर आजीविका चलाने का आदी हो गया, किसी भी कठिन परिस्थिति में वह परिश्रमपूर्वक दूसरी आजीविका नहीं

चला सकता। ऐसे धन्धों में देखा जाता है—व्यक्ति कमाता बहुत थोड़ी बार है और खोता बहुत अधिक बार। आये दिन जुआरियों की व घुड़दौड़ खेलने वालों की दुर्दशा देखी जाती है। गहने, मकान बिक जाते हैं। प्राचीन काल में भी जुए के कारण बहुतों को कष्ट उठाना पड़ा है। पाण्डुओं का राज्य-पतन व द्रौपदी का दाव पर लग जाना इतिहास की अविस्मरणीय घटनायें हैं। नल राजा को भी जुए के कारण नाना कष्ट उठाने पड़े। जुआ खेलने वालों में दूसरे व्यसन भी बहुत जल्दी आते हैं। क्योंकि उनका संसर्ग ही ऐसा होता है। घुड़दौड़ जुए का ही एक विकसित रूप है। नक्शी आदि जुए के प्राचीन प्रकार कानून से निषिद्ध हैं। घुड़दौड़ के लिये कोई राजकीय प्रतिबन्ध नहीं है। बाकी सारी बातें उसकी जुए के बराबर ही हैं, अणुव्रती को उक्त आजीविका से बचते रहना है।

आमिष का व्यापार

मांस का व्यापार तो बहुत दृष्टियों से हेय है। व्यक्ति अपनी आजीविका चलाने के लिये छोटे से स्वार्थ में कितने प्राणियों का संहारक हो जाता है। इतने प्राणियों का संहार करते हुये मनुष्य भूखे रहकर अपने प्राण विसर्जन की भी क्यों नहीं सोच लेता? पर उसे अपना जीवन प्रिय है। वह यह नहीं सोचता कि दूसरों को भी अपना जीवन प्रिय होता है। ऐसा व्यापार करने वाला प्राणी-संहार के साथ-साथ सहस्रों मनुष्यों को मांसाहार का पोषण देता है। मांस का व्यापार करना, मांस का व्यापार करने वाली कम्पनी के शेयर खरीदना आदि अनुचित कोटि की आजीविका है। किसी भी अहिंसा-निष्ठ व्यक्ति के लिये वर्जनीय है।

पैसे की भाक में मनुष्य यह भूल जाता है कि मेरे व्यवसाय का देश व विश्व के लिये कितना भयंकर परिणाम है। बड़े-बड़े उद्योगपति शस्त्र और गोला बारूद बनवाने का व्यापक धन्धा करते हैं। लगता है संसार में जो ढोल पीटा जा रहा है विश्व-शान्ति के लिये शस्त्रास्त्रों का निर्माण बन्द करो, निशस्त्रीकरण से ही हम सुख शान्तिपूर्वक जी सकते हैं, यह उन लोगों के कान में नहीं पड़ता। क्यों पड़े ? पैसे की भनकार में उन्हें कुछ सुनता भी तो नहीं। जहाँ पैसा प्रमुख है वहां सिद्धान्त कहाँ ?

शस्त्र और गोला बारूद

प्राचीन काल में बहुपत्नी-प्रथा का बोलबाला था। एक-एक व्यक्ति भी सैकड़ों और हजारों पत्नियां रखता था। समाज-व्यवस्था में ऐसा क्यों उचित माना गया, इसका कोई यथार्थ तत्त्व खोजे ही नहीं मिलता। क्या उस समय स्त्रियां अधिक थीं व पुरुष कम ? कुछ भी हो आज के सभ्य समाज में बहुपत्नी-प्रथा हेय मानी जा चुकी है। इससे नारी-जाति का अपमान व पारिवारिक जीवन की अस्त-व्यस्तता तो सुनिश्चित है ही। इस प्रथा में असंयम की भी वृद्धि है। अस्तु-अणुव्रती इस असंयममूलक व भोगवर्धक प्रवृत्ति से सर्वथा बचे।

बहुपत्नी-प्रथा

भारतवर्ष में ही नहीं दूसरे देशों में भी बहुपत्नीवाद अब मिटता जा रहा है। मुसलमान जाति में यह प्रथा अब भी बहुतायत से मिलती है। कहा जाता है चार पत्नी तक का शास्त्रीय विधान है। पाकिस्तान में होने वाली एक महिला परिषद् ने अभी-अभी यह मांग की है, एक पुरुष को दो पत्नी का ही अधिकार होना चाहिये। दृष्टिकोण बहुपत्नीवाद मिटाने

की ओर है। अन्यान्य देशों में भी व्यापकार के नियन्त्रण बन रहे हैं। भारतीय संस्कृति में संयमाभिमुख होना ही विकास माना गया है। बहुपत्नीवाद को मिटाने में भारतवासी अगुआ हों, यह उनके सांस्कृतिक धरातल के अनुकूल ही है।

रोना भी प्रथा

रोने की प्रथा भी एक रूढ़ि बन चुकी है। वह रूढ़ि सब प्रान्तों और सब देशों में एक रूप से नहीं है। कहीं-कहीं नहीं भी हो तथापि देश के अधिकांश भाग में उसकी प्रबलता और विकृतता मिलती है। किसी भी निजी व्यक्ति की मृत्यु से साधारणतः सभी को कष्ट और विषाद होता है। उस विषाद के साथ रोना भी स्वाभाविक हो जाता है किन्तु वह रोना प्रातः काल या सायंकाल की अपेक्षा नहीं रखता। जब जी में याद आती है तभी आ पड़ता है। ऐसे रोने पर कोई प्रतिबन्ध काम नहीं कर सकता, वह तो केवल आत्म-साधना का ही विषय है। जिसका मोह जितना क्षीण या प्रबल होगा वह उतनी ही उसकी उपेक्षा रखेगा।

कृत्रिम रोना वह है कि किसी भी मृतक के पीछे चाहे वह सत्तर या अस्सी वर्ष का बुड्ढा ही क्यों न हो, जिसकी मृत्यु चाहे बहुत दिनों की प्रतीक्षा के पश्चात् ही क्यों न आई हो, निश्चित अवधि तक यथाविधि बैठकर रोना ही पड़ता है। चाहे कोई असामयिक और आकस्मिक मृत्यु क्यों न हो, व्यवस्थित ढंग से रोना प्रथा और रूढ़ि ही है। यदि कुछ सोचा जाये तो यह हर एक की समझ में आने जैसी बात है कि जिस परिवार में या घर में कोई असामयिक मृत्यु हो चुकी है, दूसरे अड़ोसी-पड़ोसी व्यक्तियों का कर्तव्य उन्हें रोने से रोकना है या साथ मिलकर उनके हृदय को अधिक क्षुब्ध कर रुलाना है।

उस दुःख को भुलवाना है या याद कराते रहना है। देखा जाता है कि मृत्यु के अनन्तर बारह दिन तक तो प्रायः घर वालों को मुख से न रोटी खाने देते हैं, न कुछ आराम करने देते हैं। अपनी-अपनी सुविधानुसार कई औरतें आती हैं तो कई जाती हैं। बहुत समय तक यह चक्र चालू रहता है। घर की औरतों के लिये सबके साथ रोते रहना अनिवार्य होता है। बेचारी कोई औरत शारीरिक दुर्बलता से या अन्य किसी कारण से रोने में सबके साथ नहीं निभ सकती तो परस्पर चर्चा हो जाती है कि इसको क्या दुःख है, इसके वह क्या लगता था आदि। यह तो एक सभ्य समाज विशेष का दिग्दर्शन मात्र है, असभ्य माने जाने वाले समाज में तो न जाने और भी क्या-क्या होता होगा। कहीं इस प्रकार का रोना स्त्रियों में ही है और कहीं-कहीं तो पुरुष भी छाती-माथा कूटकूट कर रोने में स्त्रियों से आगे बढ़ जाते हैं। अन्य स्त्रियों को रुलवाया जाता है और प्रथा निभाई जाती है। पेशेवर स्त्रियाँ भी इस काम में बड़ी निपुण होती हैं। उनके अन्तर में कोई दर्द नहीं होता तब भी ऊपरी भावों में किसी भी दुःखिता स्त्री से अधिक मर्मस्पर्शी रुदन कर दिखाती हैं। अणुव्रती महिलायें इस प्रथा का अन्त कर सामाजिक जीवन में क्रान्ति का एक नया अध्याय प्रारम्भ करेंगी।

बहुत सी अणुव्रताभिमुख बहिनों का यह कथन रहा है कि सामाजिक प्रथा के अनुसार न चलने से हमारे पारिवारिक और सामाजिक जीवन में कटुता आ सकती है, हम पर नाना आक्षेप आ सकते हैं, तब क्या वह नियम हमारे लिये अव्यवहार्य-सा न बन जायेगा?

बहिनों का कथन अनुचित नहीं है। समाज के अधिकांश व्यक्ति लक्ष्यहीन सामाजिक ढर्रों से भी ऐसे चिपट जाते हैं मानो समाज की बुनियाद उन्हीं ढर्रों पर अवलम्बित है। उनमें थोड़ा भी परिवर्तन वे बरदाश्त नहीं करते। किन्तु अणुव्रती पुरुष एवं स्त्रियों को तो विकास और सुधार के मार्ग पर चलना है। उन्हें दुविधाओं से घबड़ाना नहीं होगा। उन्हें तो यह सोचकर आगे बढ़ना चाहिये कि कोई भी सुधार सर्व प्रथम इने-गिने व्यक्तियों से ही प्रारम्भ होता है। अनेकों विरोध सामने आते हैं किन्तु वास्तव में यदि वह सुधार है तो अवश्य एक दिन समाज को उस पर आना होता है।

जीमनवार

कोई प्रथा बहुत किसी अच्छे उद्देश्य को लेकर प्रारम्भ होती है पर आगे जाकर नाना दोषों से परिपूर्ण होती हुई समाज के लिये भारभूत हो जाती है। जीमनवार भी एक ऐसी ही प्रथा है। यह समझ में आता है कि इस प्रथा का उद्‌गम अवश्य पारस्परिक सहयोग और प्रेम की अभिवृद्धि के लिये ही हुआ होगा, किन्तु आज वह तत्त्व गौण देखा जाता है और जीमनवार केवल आडम्बर और ऐश्वर्य का सूचक देखने में आता है। प्रत्येक धनी-मानी व्यक्ति अपने सजातियों में बड़ा और शानदार जीमनवार करके समाज में वाहवाही लेना चाहता है। उन इने-गिने धनी-मानी व्यक्तियों की उस प्रवृत्ति का भार सर्वसाधारण पर पड़ता है। उन्हें भी जन्म, विवाह, मृत्यु से सम्बन्धित सारे जीमनवार अपनी स्थिति से बढ़ कर करने पड़ते हैं। यह सहज सम्भव न हो तो कर्ज लेकर करने पड़ते हैं और

इसका दुष्परिणाम प्रायः सभी समाजों में देखने को मिलता है। बहुत से व्यक्ति इस प्रथा के दुष्परिणाम को समझ भी चुके हैं तब भी सामाजिक शृंखलाओं में जकड़े रहने के कारण उन्हें भी वाहवाही की चक्की से उसी तरह ही पीस जाना पड़ता है।

पहले वृहद् जीमनवारों के लिये बहुत समाजों में पंचायतों के कुछ नियन्त्रण भी रहा करते थे। पर आज वे बन्धन भी शिथिल पड़ गये और व्यक्ति-व्यक्ति स्वतन्त्र है। अन्नाभाव के युग में इन जीमनवारों पर राजकीय नियन्त्रण आये। आश्चर्य है, तब भी जनता का मोह मिठाइयों से नहीं टूटा। अब भी वह आये प्रसंग में लाने और खिलाने पर डटी रहती है। सुना है, उन दिनों में भी राज्य-नियंत्रित पदार्थों को याद देकर १०,१० हजार व्यक्तियों तक के जीमनवार किये गये हैं। अविवेक की पराकाष्ठा थी। प्रथम कक्षा की बात मानी जा सकती है, जब कि मनुष्य प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये प्रत्यक्ष प्रतिष्ठा घटाने के मार्ग पर अग्रसर होता है। देखा गया है उन गैर-कानूनी जीमनवारों में राजकीय अधिकारियों द्वारा कभी-कभी इस प्रकार विडम्बना हुआ करती है जिसकी कोई हद नहीं। जीमनवार हो रहा है, पुलिस आती है। बीच ही में कुछ भागते हैं, कुछ छिपते हैं, कुछ पकड़े जाते हैं। मिठाइयाँ तोली जाती हैं। अधिक हुई तो नीलाम की जाती हैं। अन्त में प्रतिष्ठा और सहस्रों रुपयों की आहुति के बाद कहीं उन यमदूतों से छुटकारा मिलता है। यह है जीमनवार का मंगलोत्सव जिसमें शत-शत अमंगल और विपदायें आदि से अन्त तक सर पर मंडराती ही रहती हैं।

अणुव्रती आदर्श की ओर बढ़ने वाला प्राणी है। वह

इस विकृत दशा को प्रोत्साहन नहीं देगा चाहे उसे इस अन्धानुकरण नहीं करने के फलस्वरूप अपनी बिरादरी (समाज) का आलोचना-पात्र भी बनना पड़े, वह अपने आदर्श पर अटल रहेगा।

अणुव्रत-आन्दोलन का यह नियम समाज-सुधार की दिशा में क्रान्ति करने वाला होगा। एक अणुव्रती का प्रभाव उसके पारिवारिक क्षेत्र में और बहुत अणुव्रतियों का प्रभाव सामाजिक क्षेत्र में बहुत बड़ा परिवर्तन ला सकता है। ऐसा अनुभव में भी आया है कि अणुव्रतियों के असहयोग के कारण अर्थात् बृहत्-जीमनवार में सम्मिलित न होने के कारण उनके अपने प्रभावित क्षेत्र में बृहत्-जीमनवार लघु और मर्यादित होने लगे हैं। यह भी देखा जाता है कि पारस्परिक आलोचना-प्रत्यालोचना से बृहत्-जीमनवार के दोष भी सर्व-साधारण के ध्यान में आ रहे हैं और बृहत्-जीमनवार न करने का पक्ष प्रबल होता जा रहा है। यह हर्ष का विषय है और नियम की सफलता है। आवश्यक यही है कि अणुव्रती सर्वसाधारण की ओर न झुकें, अपने आदर्श पर दृढ़ रहें। यदि उनका आदर्श वास्तविक है तो अवश्य सर्वसाधारण जनता उनकी ओर झुकेगी।

धार्मिक या सामाजिक

अणुव्रत-आन्दोलन का यह नियम सामाजिक पहलुओं को छूता है। नियमों की रचना वस्तुतः सार्वदेशिक है। वह मानव जीवन के प्रत्येक पहलू को छूती है और उनमें घुसी हुई बुराइयों का निराकरण करती है। भारतीय मनुष्यों का सामाजिक जीवन विशेषतः विकृत हुआ प्रतीत होता है। अतः उनमें सुधार लाने के लिये ऐसे नियमों की आवश्यकता मानी गई है।

कुछ लोगों की जिज्ञासा रहा करती है विशुद्ध आध्यात्मिक उद्देश्य रखने वाले आन्दोलन के नियमों में ये समाज-सुधार के नियम कैसे ? यहाँ तो व्यक्ति के आत्म-सुधार या आत्मोत्थान की ही चिन्ता होनी चाहिये, समाज की चिन्ता समाज के कर्णधार करेंगे।

वस्तु-स्थिति यह है कि बहुधा व्यक्ति और समाज को एकान्ततः भिन्न मान लिया जाता है, पर तत्वतः यह नहीं है। व्यक्तियों का ही समाज है और समाज का ही अंग व्यक्ति है। अतः व्यक्ति सुधार स्वतः समाज-सुधार हो ही जाता है। दूसरी बात रहती है आध्यात्मिकता और सामाजिकता की। आध्यात्मिकता और सामाजिकता कई दृष्टियों से भिन्न होती हुई भी परस्पर नितान्त निरपेक्ष नहीं है। अनुकूल सामाजिकता में ही आध्यात्मिकता का समष्टि रूप में विकास हो सकता है। आज के मनुष्य में आध्यात्मिकता का पर्याप्त विकास न हो सकने का कारण आज की सामाजिकता ही है। आज मनुष्य की श्रेष्ठता धन में ही कल्पित है। बिना पर्याप्त धन-संग्रह के समाज में मनुष्य का जीना भी एक समस्या बन जाता है। बिना पूरा दहेज दिये, बिना बड़ा जीमनवार किये लड़कियों को ब्याहने वाला कौन ? बिना पूरा गहना दिखाये लड़के को लड़की देने वाला कौन ? मनुष्य इस प्रकार की अनेकों स्थितियों का दास होकर अर्थार्जन के ही पीछे पड़ता है। यदि ऐसा न करे तो उसका कोई सामाजिक व्यक्तित्व नहीं रह जाता। वदनशीबी से यदि किसी के दो, चार लड़कियाँ हो जाती हैं तो उसके जीवन का उद्देश्य यहाँ ही समाप्त हो जाता है कि वह किसी प्रकार मरपच कर उन लड़कियों को ठिकाने लगादे। सामाजिक बहुखर्ची का ही कारण है कि धर्म-प्रधान भारतवर्ष की सुसंस्कृत और आर्य मानी जाने वाली जातियों में लड़कियों को जन्मते

ही मार देने का कुकृत्य चला। आज भी सामाजिक प्रथाओं से बोझिल मनुष्य आध्यात्मिकता को ताक पर रख कर हिंसा, असत्य और चौर्य के सारे रास्ते देख लेने को विवश होता है। अब सोचें, समाजस्थ प्राणी आध्यात्मिकता की ओर कैसे झुके ? इसलिये ही आध्यात्मिकता के विकास के लिये आध्यात्मिक उपायों से ही सामाजिकता का निर्दोषीकरण अत्यन्त आवश्यक है।

अणुव्रतियों की जीमनवार सम्बन्धी मर्यादाओं का समाज में काफी उहापोह है। कोई उसे अव्यावहारिक बताते हैं तो कोई उसे कंजूसी का बाना। अणुव्रतियों को इस सम्बन्ध में बहुत सारी कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। आन्दोलन के आदि से लेकर अब तक इन मर्यादाओं को हिला देने का भी प्रयत्न बहुत सारे परामर्शदाताओं का रहा है, किन्तु अब तक का परिणाम यह रहा कि जनता में जितनी आलोचनायें होती रहीं उतनी ही तीव्र गति से सुधार भी आया। थोड़े से अणुव्रतियों के व्यवहार से समाज में एक व्यापक प्रभाव पड़ा। अणुव्रत की मर्यादा में नहीं चलने वाले लोग भी जीमनवार सम्बन्धी मर्यादाओं का पालन करने लगे हैं।

जीमनवारः एक समालोचना

कुछ लोग कहते हैं जीमनवार का सम्बन्ध अनैतिकता से नहीं है इसलिये जीमनवार सम्बन्धी-मर्यादायें अनावश्यक हैं; पर यह दृष्टि यथार्थ नहीं। बहुत सारी सामाजिक प्रथायें देखने में अनैतिक नहीं लगतीं किन्तु उनका दुष्परिणाम सारे सामाजिक जीवन को प्रभावित करता है। जैसे कि बताया गया—सामाजिक कुप्रथायें जीवन को बोझिल बनाती हैं और आगे

चलकर मनुष्य को संग्रह, शोषण आदि अनेकों पाप करने के लिये समुद्यत करती हैं। जीवन अधिक से अधिक सादा हो, हल्का हो यह अणुव्रत-आन्दोलन का ध्येय है। अनैतिक नहीं मान कर यदि जीमनवार सम्बन्धी बहुखर्चों और आडम्बरों को क्षम्य माना जाता है तो बहुत सारी सामाजिक कुरूढ़ियाँ क्षम्य हो जायेंगी, जिनमें एक दहेज भी है। बहुत सारे लोग उक्त मर्यादाओं को इसलिये अव्यवहार्य मानते हैं कि उनका सम्बन्ध व्यक्ति से न होकर परिवार या समाज से होता है। इसलिये समाज में चलने वालों के लिये उनका आचरण दुरूह हो जाता है; पर वास्तविकता यह है—यथोक्त मर्यादाओं का महत्त्व इसलिये है कि वे बहुजन सापेक्ष हैं। एक अणुव्रती के जीवन में जब वे आती हैं तो उनका प्रभाव परिवार और समाज तक पड़ता है। अणुव्रती वृहत् जीमनवार में भाग न ले यह उस प्रथा के साथ एक असहयोग है। असहयोगात्मक विधि से सुधार बहुत जल्दी आते हैं। व्यक्ति सापेक्ष नियमों में वह विशेषता नहीं होती। इसलिये अणुव्रत-आन्दोलन में ऐसी मर्यादायें अधिक से अधिक हों, यह अपेक्षा है।

होली-पर्व और असभ्य व्यवहार

अशिक्षित समाजों में तो उक्त प्रसंगों पर अश्लील गीत व गालियां गाने का ढर्रा है ही कतिपय अपने आप को सभ्य होने की डींग हांकने वाले लोगों में भी ऐसे प्रसंगों पर अश्लीलता का मूर्त रूप दृष्टिगोचर होता है। भले-भले आदमी होली के अवसर पर ऐसे होते हैं मानो उनकी समझ का दिवाला ही निकल गया हो। वे इतने बेईमान होकर गन्दे गीत गाते हैं कि चाहे स्त्रियां पास में खड़ी हों, चाहे बच्चे उनकी करतूतों को देख रहे हों, वे यह नहीं सोच

सकते कि हमारी प्रवृत्तियों का उन पर क्या प्रभाव पड़ रहा है? पर्दे और अवगुंठन में रहने वाली लज्जावती स्त्रियाँ जमाई और उसके सम्बन्धियों को गालियां (गन्दे गीत) गाने बैठती हैं तो बेचारे विवेकशील व्यक्तियों के लिये कानों में उगली डालने का प्रसंग उपस्थित हो जाता है। अणुव्रती के लिये चाहे वह पुरुष व महिला कोई भी हो आवश्यकता है, ऐसी प्रवृत्तियों से स्वयं बचा रहे और इन कुप्रथाओं को समाज से दूर करने के लिये यथासाध्य अहिंसात्मक प्रयत्न भी करे।

पर्व और त्यौहार किसी विशेष उद्देश्य को लेकर प्रारम्भ होते हैं पर आगे चल कर उसकी वास्तविकता लुप्त हो जाती है और लोग उसकी जड़ परम्परा को ही सब कुछ मानकर उसके जड़ उपासक हो जाते हैं। सही अर्थ में सांप चला जाता है, लोग बाद में उसकी बनी हुई लकीर को पीटते हैं। इस होली पर्व का न तो कोई प्रामाणिक इतिहास ही है और न उस पर होने वाली प्रवृत्तियां भी शिष्टजनोचित कही जा सकती हैं। कुछ लोग राख, कीचड़ आदि वस्तुओं को एक दूसरे पर उछालने की प्रथा को भी उपयोगी सिद्ध करने के लिये साहित्यिक कल्पनायें करते हैं। कहते हैं, इसमें भी कोई वैज्ञानिक तथ्य है। कुछ भी हो, गांवों से लेकर शहरों की सड़कों पर भी जिस प्रकार की होली मनाई जाती है उसमें तो बुरे ही तथ्य अधिक प्रस्फुटित होते हैं।

कुछ लोगों की मान्यता है कि रंग व गुलाल आदि पदार्थों का व्यवहार तो शिष्टजनोचित है और समाज में एक उल्लास भरने वाला है। कुछ भी हो इतना तो स्पष्ट है कि इन पदार्थों के व्यवहार से समाज के सामूहिक जीवन पर कोई घातक प्रभाव तो नहीं पड़ता। अणुव्रत-जीवन-व्यवहार में यद्यपि होली-पर्व की कोई नैतिक उपयोगिता नहीं मानी गई है तथापि मात्र इस

सम्बन्ध में प्रथम मर्यादा है—अणुव्रती सब प्रकार के ग्राम्य व्यवहारों से बचे जैसे गन्दे व अश्लील गीत गाना, कीचड़ राख गन्दे पदार्थ दूसरों पर डालना, उपहासात्मक वेश बनाना, गदहे की सवारी करना। उक्त प्रकार के अश्लील व भद्दे व्यवहारों से स्त्रियों, बच्चों आदि के जीवन पर नाना कुसंस्कार जमते हैं। किसी भी सभ्य समाज के लिये परम्परा व संस्कृति के नाम पर ऐसी रूढ़ियों पर चलते रहना लज्जाजनक है।

आत्म-उपासना

अणुव्रत आचार-धर्म है। आचार ही वहाँ देव है और उसकी ही वहाँ उपासना है। इससे आत्म-चिन्तन की बात निकलती है। इसलिये वह उसका एक अंग है। इसी प्रकार उपवास, प्रार्थना व क्षमायाचना इसके प्रमुख अंग होते हैं।

आत्म-चिन्तन

आत्म-चिन्तन आचार का परिमार्जन है। मनुष्य को दोषों के प्रति ग्लानि देता है और गुणों के आचरण में एक नया साहस। इसी लिये आचार्यों ने बताया—"रात्रि के प्रथम प्रहर या अन्तिम प्रहर में मन को एकाग्र कर व्यक्ति अपनी आत्मा से अपने आपको देखे। मैंने क्या किया? क्या मेरे लिये अवशेष है? और क्या शक्य है जो मैं नहीं कर रहा हूँ।" इस प्रकार से होने वाला आत्मावलोकन इस बात की ओर संकेत करता है कि व्यक्ति दोषों से मुक्ति चाहता है। वह आत्मस्थित एक-एक दोष को प्रतिदिन ध्यानपूर्वक देखता है और अपनी आत्म-ग्लानि के उपचार से उसकी थोड़ी-सी जड़ हिला देता है। इस प्रकार जो बद्धमूल दोष हैं वे शिथिल होकर एक दिन अवश्य अपना स्थान छोड़ देते हैं। आत्म-चिन्तन प्रत्येक व्यक्ति के लिये

१—जो पुव्वरत्ता वररत्तकाले संपिक्खए अप्प गमप्पएणं
किं मे कडं किं च मे किच्चसेसं, किं सक्कणिज्जं न समायरामि।

आवश्यक तत्त्व है। सर्वसाधारण के लिये एक आलम्बन की आवश्यकता होती है। कैसी भी स्थिति क्यों न हो थोड़ानी कम से कम प्रतिदिन १५ मिनट का आत्म-चिन्तन अवश्य करें।

आत्म-चिन्तन का एक आलम्बन

१. किसी के साथ कोई मानसिक, वाचिक या कायिक दुर्व्यवहार तो नहीं किया?

२. घर के या दूसरे व्यक्तियों से झगड़ा तो नहीं किया?

३. झूठ बोल कर अपना दोष छिपाने की कोशिश तो नहीं की?

४. स्वार्थ या बिना स्वार्थ किसी झूठी बात का प्रचार तो नहीं किया?

५. धन पाने के लिये विश्वासघात तो नहीं किया?

६. किसी की कोई वस्तु चुराई तो नहीं?

७. काम-भोग की तीव्र अभिलाषा तो नहीं रखी?

८. स्व-प्रशंसा और पर-निन्दा से प्रसन्नता व स्व-निन्दा और पर-प्रशंसा से अप्रसन्नता तो नहीं हुई?

९. क्रोध तो नहीं आया और आया तो क्यों, किस पर, कितनी बार?

१०. अपने मुँह से अपनी बड़ाई तो नहीं की?

११. किसी का झूठा पक्ष लेकर विवाद तो नहीं फैलाया और किसी को अपमानित करने की कोशिश तो नहीं की?

१२. किसी की निन्दा तो नहीं की?

१३. किसी के साथ अशिष्ट व्यवहार तो नहीं किया?

१४. अविनय, भूल या अपराध हो जाने पर क्षमा-याचना की या नहीं ?

१५. जिह्वा की लोलुपता वश अधिक तो नहीं खाया-पीया ?

१६. ताश, चौपड़, कैरम आदि खेलों में समय को बर्बाद तो नहीं किया ?

१७. किन्हीं अनैतिक या अवांछनीय कार्यों में भाग तो नहीं लिया ?

१८. किसी व्यक्ति, जाति, दल, पक्ष या धर्म के प्रति भ्रान्ति तो नहीं फैलाई ?

१९. व्रतों की भावना को भुलाया तो नहीं ?

२०. दिन भर में कौन से अनुचित, अप्रिय एवं अवगुण पैदा करने वाले कार्य किये ?

उपवास

उपवास जीवन-शुद्धि का महान् साधन है। सभी भारतीय धर्मों में उसको प्रमुख स्थान मिला है। जैन और सनातन में निःश्रेयस् प्राप्ति का वह एक परम अंग माना गया है। मुसलमान धर्म में भी अपने प्रकार से उपवास आदि को महत्त्व दिया गया है। साधक का जीवन इन्द्रियों पर विजय पाना और मन को शुद्ध रखना है, इसके लिये भी उपवास अत्यन्त उपयोगी है। जहाँ यह आत्मिक रोगों के शमन का अमोघ मंत्र है वहाँ शारीरिक स्वास्थ्य लाभ का भी एक असाधारण उपादान है। चरक, सुश्रुत आदि ग्रन्थों में भी पक्ष या मास में उपवास रखने के बहुत सारे लाभ लिखे हैं। प्राकृतिक चिकित्सा का तो यह प्राण ही है। प्राचीन काल से लोकोक्ति भी ऐसी चलती है जो व्यक्ति प्रति पक्ष या प्रति मास उपवास

करता है उसके घर वैद्य क्यों आयेगा? अस्तु, इस प्रकार उपवास के अनेकों लाभ हैं पर अणुव्रती अपने व्रत का ध्येय आत्म-शुद्धि को ही मान कर चले, इसी में साध्य और साधन की शुद्धि रह सकती है जो भौतिक लाभ उपवास के द्वारा सुलभ है वे तो मिलेंगे ही।

अणुव्रती प्रतिमास एक उपवास करे। उपवास का अर्थ होता है एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय तक जल के अतिरिक्त कुछ भी नहीं खाना-पीना। इस उपवास से ध्येय शुद्धि की साधना नहीं है, जिसमें केवल अन्न-त्याग, दूध, फल, मिठाई आदि चौगुना भार आंतों पर लाद दिया जाता है। वहाँ यथार्थ संयम ही नहीं तब स्वास्थ्य लाभ कैसा?

शारीरिक या मानसिक दुर्बलताओं से यदि उक्त प्रकार का उपवास किसी अणुव्रती के लिये असाध्य है तो वह प्रति मास दो एकाशन करे। एकाशन का अर्थ एक आसन स्थित पहले सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय तक एक बार से अधिक न खाना।

प्रार्थना और व्रतावलोकन

प्रार्थना भी आत्म-उपासना का महत्त्वपूर्ण पहलू है। सभी धर्मों में इसको महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। प्रार्थना से एक नई स्फूर्ति और अपने संकल्पों के प्रति दृढ़ आस्था उत्पन्न होती है। साम्प्रदायिक प्रार्थना अणुव्रती का ऐच्छिक विषय है। अणुव्रत-प्रार्थना आत्म-शुद्धि व आचार-शुद्धि के समन्वित तत्त्वों पर आधारित होनी चाहिये। आन्दोलन के प्रवर्तक आचार्य श्री तुलसी ने समग्र अणुव्रतियों में एकात्मकता रह सके इसलिये "बड़े भाग्य है! भगिनी बन्धुओं! अणुव्रती बन पायें हम" नामक प्रार्थना का प्ररूपण किया है।

अणुव्रत-प्रार्थना

बड़े भाग्य हैं ! भगिनी बन्धुओं! जीवन सफल बनायें हम।
आत्म-साधना के सत्पथ में अणुव्रती बन पायें हम ॥आंकड़ी॥

अपरिग्रह, अस्तेय, अहिंसा सच्चे सुख के साधन हैं।
मूर्च्छा देखलो संत अकिंचन संयम ही जिनका धन है।
इसी दिशा में दृढ़ निष्ठा से क्यों नहीं कदम बढ़ायें हम।
आत्म-साधना के सत्पथ में अणुव्रती बन पायें हम ॥१॥

रहें यदि व्यापारी तो प्रामाणिकता रख पायेंगे।
राज्य कर्मचारी जो होंगे रिश्वत कभी न खायेंगे।
दृढ़ आस्था, आदर्श नागरिकता के नियम निभायें हम।
आत्म-साधना के सत्पथ में अणुव्रती बन पायें हम ॥२॥

गृहिणी हो, गृहपति हो चाहे विद्यार्थी, अध्यापक हो।
वैद्य, वकील शील हो सबमें नैतिक निष्ठा व्यापक हो।
धर्म-शास्त्र के धार्मिकपन को आचरणों में लायें हम।
आत्म-साधना के सत्पथ में अणुव्रती बन पायें हम ॥३॥

अच्छा हो अपने नियमों से हम अपना कंट्रोल करें।
सत ना दूजे बद बन्धन से मानवता की शान हरें।
यह विवेक मानव का निज गुण इसका गौरव गायें हम।
आत्म-साधना के सत्पथ में अणुव्रती बन पायें हम ॥४॥

आत्म-शुद्धि के आन्दोलन में तन-मन अर्पण कर देंगे।
कहीं नाच हो जिये अंतर में आंच नहीं आने देंगे।
भौतिकवादी प्रलोभनों में कभी न हृदय लुभायें हम।
आत्म-साधना के सत्पथ में अणुव्रती बन पायें हम ॥५॥

सुधरे व्यक्ति समाज व्यक्ति से उसका असर राष्ट्र पर हो।
जाग उठे जन-जन का मानस ऐसी जागृति घर-घर हो।
'तुलसी' सत्य अहिंसा की जय-विजय ध्वजा फहरायें हम।
आत्म-साधना के सत्पथ में, अणुव्रती बन पायें हम॥६॥

पन्द्रह दिनों से स्थानीय अणुव्रती सामूहिक प्रार्थना और व्रतावलोकन करें। इससे अणुव्रतियों में संगठन पैदा होगा और पारस्परिक समालोचनाओं से व्रत-शुद्धि भी होगी। वहाँ पर पाक्षिक भूलों एवं प्रगति का अवलोकन भी हो सकेगा।

क्षमा-याचनाः एक प्रयोग

क्षमायाचना पारस्परिक कलहों को निवारण करने का राज-मार्ग है। क्षमा मांगने और मंगवाने का व्यवहार समाज में प्रचलित है किन्तु वह निर्दोष नहीं, इसलिये उसका सुन्दर परिणाम दृष्टिगोचर नहीं होता। वहाँ किसी भी कलह के समझौते का आरम्भ क्षमा मंगवाने से नहीं होता है, इससे गुत्थी सुलझती नहीं। क्रोध के साथ वहाँ अहम् और जाग उठता है। क्रोध और अहम् की दिवार जहाँ जाग उठती है वहाँ मनोमालिन्य कैसे दूर हो? दोनों पक्ष यदि इस बात पर डट जाते हैं—गल्ती उसकी है इसलिये वह क्षमायाचना करे। इस स्थिति में थोड़ा भी सामर्थ्य रहते हुये कोई भी किसी के सामने नहीं झुकता। यदि विवश होकर झुकता भी है तो भी उससे क्लेश दूर होकर प्रेम नहीं बढ़ता।

लोगों की यह मिथ्या धारणा है कि जो पहले क्षमायाचना करता है तो उसकी बात चली जाती है परन्तु स्थिति यह है दो विरोधियों में से क्षमायाचना की जो पहल करता है वह

बाजी मार लेता है। दूसरे पक्ष के पास सिवाय गिड़गिड़ाने के और कुछ नहीं रह जाता। यह एक प्रयोग है जो साधक को आत्म-शुद्धि के साथ व्यावहारिक सफलता भी देता है।

अपनी भूल के लिये तो क्षमायाचना करना अणुव्रती के लिये अनिवार्य है ही। आवश्यक है अपनी ओर से किसी के साथ कटु-व्यवहार होते ही तत्काल क्षमायाचना करे। एक साधक अपने अहम् का एकाएक मुँह नहीं तोड़ सकता तो १५ दिनों की अवधि में तो उसे क्षमायाचना कर ही लेनी चाहिये।

अणुव्रती क्षमा मांगने की तरह क्षमा देने में भी उदार-चेता रहे। किसी ने उसके साथ कटु-व्यवहार किया तो उसे यह गांठ नहीं लगा लेनी है कि जब वह क्षमा मांगने आयेगा तब ही मैं उसे क्षमा करूँगा। दोषी को भी अपनी ओर से क्षमा-प्रदान करने में वह पानी-पानी हो जाता है।

अहिंसा-दिवस

अहिंसा अणुव्रत-आन्दोलन का मूल आधार है। अहिंसा के सद्भाव में उद्देश्य की सफलता है। जन-जन में अहिंसा की साधना बढ़े, अहिंसा की भावना बढ़े और हिंसा के विरुद्ध एक वातावरण बने इसलिये आन्दोलन के अन्तर्गत वर्ष में एक सामूहिक अहिंसा-दिवस मनाने की व्यवस्था है। वह अहिंसा-दिवस केवल अणुव्रतियों के लिये ही नहीं किन्तु अहिंसा-निष्ठ सभी व्यक्तियों के लिये है। यहाँ तक की वह कसाइयों के लिये भी है। उक्त अहिंसा-दिवस से प्रेरणा पाकर उस दिन के लिये वे भी अपनी क्रूर प्रवृत्तियों को छोड़ें। अहिंसा-दिवस की साधना वैसे तो व्यक्ति के विवेक

पर निर्भर है वह उसे जितनी भी उच्च कोटि का बना सके। उसकी सामान्य मर्यादायें ये हैं:—

क—उपवास करना।
ख—ब्रह्मचर्य का पालन करना।
ग—असत्य-व्यवहार नहीं करना।
घ—कटु-वचन नहीं बोलना।
च—मनुष्य, पशु, पक्षी आदि पर प्रहार नहीं करना।
छ—वर्ष भर में हुई भूलों की आलोचना करना।
ज—किसी के साथ हुये कटु-व्यवहार के लिये क्षमतक्षामना करना।

परिणाम

विगत पाँच वर्षों से देश में जो अहिंसा-दिवस मनाया गया है और जनता ने जो प्रेरणायें उससे ली है वह स्तुत्य है। छोटी-छोटी बस्तियों में अहिंसा-दिवस के उपलक्ष में सहस्रों उपवास होना, सामुहिक रूप से व्यापार मात्र बन्द रखना, एक-एक शहर में सहस्रों कसाइयों का स्वेच्छा से समग्र दिन पशु-वध बन्द रखना और अहिंसा-दिवस सम्बन्धी सार्वजनिक आयोजनों में भाग लेना आदि कार्यकलाप व्यावहारिक जीवन में अहिंसा के अवतरण के सूचक हैं।

विशिष्ट अणुव्रती

आन्दोलन की व्यवस्था के अनुसार विशिष्ट अणुव्रती साधना की एक तीसरी श्रेणी है।

वस्त्र-विवेक

पिछली श्रेणियों से उत्तरोत्तर संयम का विकास करना इसका लक्ष्य है। अणुव्रती अपने जागरूक विवेक से जीवन के प्रत्येक पहलू में संयममूलक प्रगति करता रहे। संयम-विकास के कुछ पहलू तो उसके लिये निर्धारित हैं ही। वस्त्र-संयम के विषय को लेकर वह रेशमी व विदेशोत्पन्न वस्त्रों का परिहार तो कर ही चुका है। अब उसे और आगे बढ़ता है। बढ़ने के नाना प्रकार हो सकते हैं। सबका मूल अहिंसा, अपरिग्रह और अशोषण होना चाहिये। इस विषय में उसके लिये कुछ निश्चित मर्यादायें हैं। जैसे:—एक वर्ष में सौ गज से अधिक कपड़े का उपयोग नहीं करूँगा या हाथ के कते-बुने वस्त्रों के सिवाय किसी भी प्रकार के वस्त्रों का उपयोग नहीं करूँगा। पहली मर्यादा के मूल में है—अपनी अनन्त लालसा को सीमित कर गजों में बांध लेना। दूसरी के मूल में है—अहिंसा, अपरिग्रह और अशोषण। सौ गज की मर्यादा अल्पतम नहीं कही जा सकती। अणुव्रती स्वयं अपनी आवश्यकताओं को सीमित कर उक्त मर्यादा को घटाता जाये, यह उसका विवेक होगा। दूसरी मर्यादा हाथ के कते-बुने वस्त्रों की है। उसमें भी मर्यादा के संकोच की काफी गुंजाइस है। उसी दिशा में आगे बढ़ता हुआ अणुव्रती अपने लिये यह भी नियम बना

सकता है कि मैं अपने प्रान्त व ग्राम में बनी हुई खद्दर के सिवाय अन्य वस्त्र का उपयोग नहीं करूँगा व अपने हाथ से कते-बुने सूत से बने कपड़े के सिवाय अन्य वस्त्र काम में नहीं लूँगा।

बहुत सारे विचारकों का आग्रहपूर्ण सुझाव था कि विशिष्ट अणुव्रतियों के लिये तो हाथ से कते-बुने वस्त्रों के अतिरिक्त वस्त्र न पहनने की निर्विकल्पता ही होनी चाहिये थी। किन्तु स्थिति यह है वस्त्र-संयम के नाना राजमार्ग हैं। एक ही प्रकार-विशेष के साथ अणुव्रती को कस दिया जाये, यह अभीष्ट नहीं। आन्दोलन का मूल अहिंसा और अपरिग्रह पर है। उसका सार्वदेशिक विकास होता रहे यही अधिक श्रेयस्कर होता है। यद्यपि वर्तमान वातावरण में चर्खा व खद्दर बहुत ऊँचा स्थान पा चुके हैं तथापि यह लक्ष्य नहीं, साधन ही माने जा सकते हैं। समाज में अशोषण आये—यह एक लक्ष्य है। अणुव्रती का आदर्श होगा—वह अपने कल-कारखानों में भी शोषण को न पनपने दे। वह वैयक्तिक अधिकारवाद को चुनौती देगा। मजदूर और अपने बीच तरतमता को नहीं पनपने देगा। सामाजिक अधिकारता में शोषण नहीं रहेगा और वह आन्दोलन की एक प्रकट सफलता होगी।

समाज में शोषण को मिटा देने के दो प्रकार हो सकते हैं—या तो उस यंत्रवाद को मिटा दिया जाय, जिसके आधार पर यह शोषण पनपा है या यंत्रवाद के उन सदोष प्रकारों को जिनके कारण शोषण और अधिकारवाद बढ़ा है। असम्भव दोनों ही कार्य नहीं हैं तथापि यह कभी-कभी असम्भव के लगभग लगता है कि आज का विश्व जो चर्खे

से आरम्भ होकर वस्त्र-निष्पादन के हेतु मिल-निर्माण तक पहुँच चुका है, वह उपलब्ध सुविधा और कला से मुँह मोड़ कर पुनः अयंत्रवाद के उस गुहा-युग में चला जाये। यन्त्र स्वयं जड़ है। वह अपने आप में भला बुरा कुछ नहीं। उपयोक्ता उसका सदुपयोग भी कर सकता है और दुरुपयोग भी। एक ही वस्तु मनुष्य के लिये वरदान भी सिद्ध हो सकती है और अभिशाप भी। अणुव्रत-आन्दोलन जन-मानस की नैतिकता के उस उच्च स्तर पर पहुँचाने का हामी है कि वह उपलब्ध हुये किसी भी भौतिक साधन का दुरुपयोग न करे। "वसुधैव कुटुम्बकम्" का आदर्श जब चरितार्थ होगा, तब शोषण व वर्ग-संघर्ष जैसी बुराइयाँ अपने आप पलायन बोल देंगी।

लंचा-दान

लंचा (घूंस)—ग्रहण का निषेध सामान्य अणुव्रती की मर्यादा में हो चुका। उस निषेध में भी भावना तो यही रही कि यथासंभव वह लंचा दे भी नहीं। यहाँ उस यथासंभवता का स्थान अनिवार्य निषेध ने ले लिया है। आज के वातावरण में यह व्रत असिधारा के बराबर है। कचहरी, रेलवे स्टेशन, पोस्ट ऑफिस आदि किसी भी स्थान पर रिश्वत देने वाला अपना कार्य आसानी से कर गुजरता है। छोटे से छोटे कार्य को भी अधिकारी लोग कुछ लाभ उठाने की दृष्टि से रोके रखते हैं। वस्तों के काम में महीने लग जाते हैं। यों भी विशिष्ट अणुव्रती को वातावरण से एक नई मोड़ देनी है। स्थिति-स्थापकता का एक बार अन्त हुये बिना पुनर्निर्माण असम्भव है। बुराइयों के साथ लोहा न लेने से ही वे पनपी हैं। विशिष्ट अणुव्रती आने वाली कठिनाइयों को चीरकर एक नये आदर्श का निर्माण करे।

कर (Tax) व्यवस्था

आज की कर-व्यवस्था नैतिकता की परख के लिये खरी
कसौटी बन चुकी है। कर-व्यवस्था में
भी अपनी नैतिकता को अखण्ड रखने
वाला व्यक्ति व्यवसाय व जीवन के
अन्यान्य पहलुओं में भी नैतिकता पर
चल सकेगा ऐसा सहज ही माना जा सकता है। बहुत सारे
लोगों ने अपना यह दावा बना लिया है कि कर की चोरी
तो कोई चोरी है ही नहीं। क्योंकि इतने करों का भार अन्याय
पूर्ण है। वे लोग कहते हैं, करों का भी कभी अन्त आयेगा—
आय-कर, बिक्री-कर, मृत्यु-कर और न जाने क्या-क्या कर।
तथापि आज के बढ़ते हुये कर-चिन्तन का विषय अवश्य बन
गये हैं, यह तो निर्विवाद है। करों का अनहद दबाव ही कर
विषयक चोरी का एक अनन्य हेतु है। कुछ प्रसंगों पर ऐसा
हुआ है, कर विशेष के घटने पर राज्य को वही आय हुई,
जो कर की पूर्व स्थिति में होती थी। कारण स्पष्ट है, अधिक
कर में चोरी अधिक थी और अल्प कर में अल्प। कर-
व्यवस्था को लेकर शासकों और जनता में आज बड़ा मत-
भेद है। शासक कहते हैं, दूसरे देशों की अपेक्षा भारतवर्ष
में अब भी कर थोड़ा है। जनता कहती है, आज जितने कर
हैं, भारतवर्ष में किसी युग में नहीं आये। और तो क्या,
मृत्यु पर भी कर। विचारकों के इस असामंजस्य का मूल
हेतु है—समाज-व्यवस्था का संक्रान्ति-काल। शासकों का
ध्येय है, अमुक कानून के द्वारा अमीरी और गरीबी के भेद
को मिटाते जायेंगे। अतः उन्हें लगता है, जो व्यक्ति एक वर्ष
में लाख रुपये कमाता है और वह सत्तर या अस्सी हजार

रुपये कर में देकर बीस या तीस हजार रुपये बचा पाता है तो एक व्यक्ति के लिये क्या यह कम है? व्यापारी यह सोचते हैं—दस लाख की रकम को हम घाटे-नफे की जोखिम में डालकर और वर्ष भर परिश्रम कर जो एक लाख रुपया बचाते हैं, उसमें से भी हम यदि एक तिहाई के भी भागी नहीं बनते हैं तो हमें क्या मिला। यदि हमारे एक लाख की आय के बदले दो लाख का घाटा हो जाये तो क्या राज्य उसकी पूर्ति करता है? विचारों के इस असामञ्जस्य का निष्कर्ष यही निकलता है, शासक लोग जनता के नैतिक स्तर को परखे बिना ही नित नये कर उस पर न लादें। जब तक उन करों की अनिवार्यता जनता को नहीं समझा देंगे, तब तक तथा प्रकार के करों से जनता में क्षोभ बढ़ेगा और तथा रूप करों की चोरी बढ़ेगी। यह मानकर करों को बढ़ावा देना कि जितना कर हम लगायेंगे उसका एक चौथाई ही जनता हमें देगी इसलिये सब वास्तविक करों को चौगुना कर दिया जाये, यह बहुत बड़ी भूल होगी। ऐसा करके तो शासक सर्वसाधारण की करदविषयक निष्ठा और नैतिकता ही समाप्त कर देंगे। साथ-साथ सर्वसाधारण का भी दायित्व यह रह जाता है, शासक वर्ग द्वारा निर्धारित किसी भी कर का वे लंघन न करें। हो सकता है, सब प्रकार के कर सब लोगों की दृष्टि में उचित न हों तथापि कर की चोरी उसका प्रतिकार नहीं। वह तो आत्म हनन ही है। इससे व्यक्ति-व्यक्ति में स्तेय-वृत्ति बढ़ती है और वह जीवन के अन्य पहलुओं को भी दूषित कर देती है। सत्य का साधक भय नहीं खाता। यदि उसे किसी बात का विरोध करना है, तो वह स्तेय जैसी कायरता नहीं करेगा। वह तो शासक-वर्ग

को इस बात की चुनौती ही देगा कि यह मंविधान अनुचित है। मैं इसका पालन नहीं करूँगा और यदि यह सच है तो अन्य सहस्रों लोग इसका अनुकरण करेंगे। चोरी किसी वस्तु का नैतिक प्रतिकार नहीं हो सकती। विशिष्ट अणुव्रती आय-कर, बिक्री-कर, मृत्यु-कर एवं तत्प्रकार के अन्य करों की चोरी नहीं करेगा।

ब्याज

इस्लाम धर्म में ब्याज-ग्रहण को अत्यन्त घृणित और महापाप माना गया है। लगता है, उन दिनों समाज में ब्याज लेने वालों का आतंक बहुत बढ़ गया था। तभी इस्लाम धर्म के प्रवर्तक मुहम्मद ने इसके विरुद्ध अपनी आवाज उठाई। ब्याज लेना बहुत बड़ा गुनाह बताया। आज भी ब्याज ने समाज में एक व्यवसाय का रूप ले रखा है। गरीबों की स्थिति से अनुचित लाभ उठाने वाले न जाने कितने "शाइ लोक"[1] समाज में पैदा हो गये हैं। इसलिये सरकार को इसमें हस्तक्षेप करना पड़ा है। ब्याज लेना व देना मूलतः ही समाज से उठा दिया जाये, ऐसी स्थिति नहीं है। अतः ब्याज-ग्रहण की एक सीमा निर्धारित करनी पड़ी है। विशिष्ट अणुव्रती उस सामाजिक औचित्य का लंघन न करे।

परिग्रह नाना अनर्थों का मूल है। इसके संग्रह में लीन हुआ व्यक्ति हिंसा का आश्रय लेता है। ब्याज-ग्रहण की मनोवृत्ति भी इसी बात की सूचक है। ब्याज पर दिये गये रुपयों को व ब्याज को जब व्यक्ति अदा करता है, तब उसका हृदय इतना क्रूर हो जाता है कि मानवता को ताक में रख

१—शेक्सपीयर के मर्चेन्ट आफ वेनिस उपन्यास का एक अनुचित ब्याज लेने वाला व्यापारी पात्र।

कर सामने वाले व्यक्ति को सब प्रकार से बरबाद करके भी वह अपने रुपये निकलवाना चाहता है; चाहे उसके घर लाखों और करोड़ों की सम्पत्ति भी क्यों न पड़ी हो। इसीलिये शास्त्रकारों ने उचित ही कहा है कि अनन्त अनु-बन्धी लोभ के चंगुल में फंसे मनुष्य में सम्यक् दर्शन नहीं ठहर सकता।

फाटका-बाजार
निष्क्रिय व्यापार

वस्तु-विनिमय से व्यवसाय का आरम्भ हुआ। फिर अर्थ उसका साध्यम बना। क्रय-विक्रय में एक ओर वस्तु और एक ओर अर्थ। अब व्यवसाय ही एक व्यसन हो चला है। वस्तु के आदान-प्रदान का कोई पक्ष ही नहीं, केवल द्रव्य का व्यवसाय बन गया है। जूट (कुष्टा) बाजार में तेजी मन्दी के किसी भी उतार-चढ़ाव से जूट का क्रय-विक्रय होता रहे, यह एक झंझट है। यह मान कर लोगों ने रास्ता निकाल लिया है, जूट का क्रय-विक्रय तो दूर उसे आँखों से भी न देखना पड़े, केवल उसके भावों की तेजी-मंदी से घट कर लाखों की हार-जीत हो जाये—यह फाटका है। आज देश के लाखों और करोड़ों लोग इस निष्क्रिय व्यवसाय में लगे हैं। फाटका लोगों को अच्छा लगता है, इसलिये कि इसमें माल खरीदने के हेतु बहुत बड़ी रकम एक साथ नहीं चाहिये। कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता। केवल दिमागी खिलवाड़ से प्रतिदिन सायंकाल ही हानि-लाभ का चिट्ठा उतर कर सामने आ जाता है।

ऊपर से जितना सहज व आकर्षक लगता है, अन्तरंग में वह समाज के लिए एक बहुत बड़ा अभिशाप सिद्ध हो रहा है। समाज-व्यवस्था का आधार श्रम है। प्रत्येक व्यक्ति समुचित श्रम समाज को दे और समुचित भोग-सामग्री

समाज से प्राप्त करे, यह समाज-शास्त्र का पहला सूत्र है। फाटका इस संविधान के बिल्कुल उल्टा है। वह समाज में निष्क्रिय व्यक्तियों की एक फौज तैयार करता है। फाटका करने वाले व्यक्ति बहुधा इतने अकर्मण्य हो जाते हैं कि अनिवार्य परिस्थितियों में भी खेती, नौकरी या अन्य कोई भी परिश्रम का व्यवसाय उनके लिये एक हौआ बन जाता है। इस निष्क्रियता ने आज सारी समाज-व्यवस्था को हिला दिया है। इसी का परिणाम है—फाटका बन्द हो, फाटका बन्द हो की आवाज सारे विश्वमंडल में गूँज पड़ी है।

फाटका करने वाले कहते हैं—अन्य व्यवसायों में बहुत बड़ी हिंसा है। फाटका अहिंसा प्रधान है। किन्तु उन्हें अपना अन्तरंग टटोलना चाहिये—कि क्या वे फाटका इसलिये करते हैं कि वह अहिंसा प्रधान है या अपनी व्यसनपरता और निष्क्रियता ही इसका असाधारण हेतु है। हिंसा केवल कायिक ही नहीं होती, कभी-कभी मानसिक हिंसा उससे और आगे बढ़ जाती है। फाटका करने वालों की तृष्णा छलांगें भरती है। वह प्रतिदिन अखण्ड लालसा को लेकर उठता है और अपनी अतृप्त भावनाओं के लिये सोता है। मानसिक व्यग्रता फाटका करने वालों का पहला गुण है। खाना-पीना व अन्य कार्य उनके बहुधा अस्त-व्यस्त रहते हैं। आध्यात्मिक चिन्तन में मानसिक एकाग्रता तो उनके लिये अशक्य अनुष्ठान हो जाती है। कहने को यह भी कहा जा सकता है कि जुआ खेलना क्या बुरा है? उसमें भी हिंसा आदि समारंभ नहीं हैं पर यह कौन मानेगा? उसमें रहे नाना दुर्गुण उसे कभी श्रेष्ठ आचरण की कोटि में नहीं आने देंगे। जुआ और फाटका में बहुत बड़ी समानतायें

है। भारतीय संस्कृति में जुए को अधिक बुरा इसलिए माना गया है कि वह एक व्यसन है। उसमें फंसने के बाद मनुष्य जल्दी से निकल नहीं पाता। ज्यों-ज्यों मनुष्य हारता है, त्यों-त्यों जुआ खेलने की वृत्ति और अधिक भभक उठती है। ये सारी बातें फाटके में भी हैं। जुआरियों की तरह सटोरियों का भी गहना और थाली-लोटा बहुधा बाजार में बिकता देखा जाता है। फाटके को बुरा बताने में यदि लोगों को झिझक होती है तो इसी कारण से कि आज के युग में वह बहुत व्यापक बन गया है। उसने देशीय ही नहीं, अन्तर्देशीय रूप ले लिया है। ऊंचे और भद्र कहलाने वाले करोड़ों मनुष्यों का यह व्यवसाय बन गया है। फिर भी इस प्रवाह को मोड़ना है। सामाजिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से इसका अति विस्तार भयावह है।

कुछ लोग कहते हैं, गरीबों का साधन फाटका ही है। व्यवसाय करने के लिये पैसा नहीं है, नौकरी मिलती नहीं, ऐसी स्थिति में और चारा ही क्या रह जाता है, यह एक भावना है। परिश्रम से सब दुःखम होते हैं। स्थिति तो यह है कि नौकरी में अपमान अनुभव होता है और किसी परिश्रमपूर्ण व्यवसाय में भी भचलता है। ऐसे लोगों के लिये फाटका ही अवशेष रह जाता है। गरीबी और नौकरी का न मिलना ही एक मात्र इसका हेतु होता तो लक्षाधीश व कोटिपति इसमें क्यों फंसे देखे जाते। जो गरीब थे और फाटके से पर्याप्त धन पा लिया, क्या वे भी इसे तिलांजलि देते देखे जाते हैं ?

फाटका के समर्थक कहते हैं, और सभी व्यवसायों में मिलावट, झूठा तोल-माप, चोर-बाजारी आदि अनैतिकतायें हैं, इसमें ऐसा नहीं है। उत्तर सीधा है, यह सच है कि

इसमें उक्त बुराइयाँ नहीं हैं, पर इतना ही सच यह भी तो है कि फाटका स्वयं एक बड़ी से बड़ी बीमारी है। अस्तु, फाटका के बहुत सारे दुष्परिणाम देखने में केवल सामाजिक लगते हैं किन्तु उससे बहुत सारे आत्मिक गुणों का हनन भी होता है। आर्त्तध्यान आदि नाना मानसिक संक्लेश पनपते हैं अतः विशिष्ट अणुव्रती के लिये यह वर्जनीय है। उसका दायित्व तो यह होगा कि अपने पुत्र-पुत्रादि को भी इस रास्ते पर न जाने दे। जाने वाले अन्य लोगों को भी इस नये व्यसन से मुक्त करने का प्रयत्न करता रहे।

संग्रह-उन्मूलन

संग्रह आज के युग की एक व्यापकमुखी समस्या है। प्रेम, सौहार्द व समानता आदि कितने ही दैवी गुण इसके द्वारा निगले जा चुके हैं। जब-जब मनुष्य ने संग्रह के दुष्परिणामों को समझा, तब-तब समाज में त्याग की बात आई। आज भी वही स्थिति है। संग्रह के दुष्परिणाम—असमानता, वैमनस्य, दीनता, वर्ग-संघर्ष आदि से सारा विश्व संत्रस्त हो रहा है। नाना प्रयत्न भी इस दिशा में होते देखे जाते हैं। एक ओर बताया जाता है—शोषित वर्ग को येन केन प्रकारेण राज्य-सत्ता हथिया लेनी चाहिए तो एक ओर प्रयत्न है—भूमि, संपत्ति आदि का दान कर देना चाहिए। किन्तु स्थिति यह है—राज्य सत्ता के हथिया लेने से संग्रह या शोषण मिटेगा, ऐसी बात नहीं है। उससे तो केवल यही अपेक्षित है, जो शोषित है, वह संग्राहक बन जाए और संग्राहक है, वह शोषित। जो कुछ है, उसका दान कर दिया जाए, यह बात भी समस्या के मूल पर नहीं जाती। दान भी होता जाए और पुनः उन्हीं व्यक्तियों का

शोषण होकर संग्रह भी होता रहे उसका योगफल क्या होगा, यह एक सीधी सी बात है। अणुव्रत-आन्दोलन की दृष्टि है—व्यक्ति असमर्यादित संग्रह करना छोड़े। यदि नये सिरे से संग्रह बन्द हो जाता है तो संग्रहीत द्रव्य तो किसी न किसी प्रकार बिखर जाने का ही है।

यह एक बहुत बड़ा प्रश्न था, संग्रह की दिशा में अणुव्रती अपने आपको कहां तक सीमित करे। सर्वोदय के क्षेत्र में भी श्री किशोरलाल मशरूवाला ने इस विषय को जोरों से उठाया था और ऐसी कुछ रूप रेखाएं भी दी थीं कि सर्वोदयी सेवक दश हजार से अधिक संग्रह न करे, पर वे व्यवहार्य नहीं हो सकीं। अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक आचार्य श्री तुलसी ने एक लम्बे विचार-विमर्श के पश्चात् इस दिशा में सक्रिय कदम उठाया है। उसके अनुसार विशिष्ट अणुव्रती अनिवार्यतया यह प्रतिज्ञा करता है, मैं संग्रहीत पूँजी एक लाख से अधिक नहीं रखूंगा। यह मर्यादा सहसा तो विस्तृत लगती है पर जैसा कि लोग सोचा करते हैं, विषमता का सुखद अन्त तब होगा, जब कि जो वर्ग अर्थाभाव से नितान्त उत्पीड़ित है, उसका स्तर (Standard of living) ऊँचा उठेगा और आज जिनका स्तर अत्यधिक ऊँचा है, वह बहुत कुछ हलका होगा। ऐसी स्थिति में विशिष्ट अणुव्रती का उक्त संकल्प एक मध्य-बिन्दु ही सिद्ध होता है। अणु-अणुव्रती का परम ध्येय तो अर्थ-मुक्ति है। आन्दोलन की मर्यादा सर्व-सामान्य है। पर वैयक्तिक स्थितियों में बहुत सारे अणुव्रती मर्यादा का और भी संक्षेपीकरण कर सकते हैं। उन्हें इस दिशा में हमेशा जागरूक रहना चाहिये।

परिशिष्ट

प्रेरणा-दीप

(अणुव्रतियों के जीवन-संस्मरण)

(१)

ब्लैक मान्य नहीं

अणुव्रती होने के पश्चात् मैंने अपने पारिवारिक जनों से अपने फर्म में ब्लैक न करने के लिये विनम्र अनुरोध किया और ब्लैक होने की स्थिति में सम्मिलित रह सकने में असमर्थता प्रकट की। बड़े भाई साहिब ने कहा—तुम्हारे मन में ही यदि धन की उत्कट लालसा नहीं है तो हमें धन को साथ लेकर थोड़े ही जाना है। हम ब्लैक किस लिये करेंगे ?

प्लास्टिक चूर्ण का एक बड़ा कोटा मुझे एक अन्य व्यवसायी के साथ मिला हुआ था। ब्लैक की दर से लगभग तीन लाख रुपये का लाभ मेरे हिस्से आता था पर ब्लैक करना मुझे मान्य नहीं था। अत: उस व्यवसाय से ही मैंने अपना नाता तोड़ लिया। चोर-बाजारी न करने के लिये और भी बहुत प्रकार के धन्धे मुझे छोड़ देने पड़े।

(२)

अणुव्रती का आदर्श

अणुव्रत लेने के पश्चात् कुछ ही महीनों में मेरी और मेरी दुकान की प्रतिष्ठा बढ़ी है। ग्रामवासियों के अतिरिक्त कोसों दूर अन्य गाँवों से कपड़ा खरीद करने वाले ग्रामीण भाई भी सर्व प्रथम मेरी ही दुकान पर आते हैं। किसी कारण मेरे यहाँ यदि उन्हें कपड़ा नहीं मिलता तो कुछ दिन प्रतीक्षा करके दूसरी बार शहर में आकर मेरे ही यहाँ से कपड़ा ले जाना चाहते हैं। आसपास के गाँवों में बहुत सारे लोग यह जानने लगे हैं कि इसकी दुकान पर ब्लैक नहीं

मिलावट, झूठा तोल-माप आदि से बच जाता हूँ। इसलिये पहले से भी अधिक मेरे मानसिक सन्तुष्टि है।

व्यापारार्थ चोर-बाजार नहीं करना इतना मूल नियम है पर मैंने यह संकल्प कर रखा है कि खान-पान की चीजें भी ब्लैक से नहीं खरीदूँगा। कठिनाइयों का सामना करके भी मैंने इसे निभाया है। त्याग पर चलना कठिन है पर चलने का परिणाम बड़ा सुन्दर होता है।

तेजपुर (आसाम) में मुझे नियन्त्रित भावों से चीनी नहीं मिलती थी। मैं गुड़ की चाय बनवा कर पीता था। एक दिन मेरे सम्बन्धी के यहाँ कुछ अतिथि आये। जिनमें कुछ राज-कर्मचारी भी थे। सायंकाल सबको चाय पिलाई गई। मेरे लिये सम्बन्धियों ने गुड़ की चाय अलग बनवा कर मंगवाई। राजकर्मचारियों में एक टैक्सटाइल सुपरिन्टेन्डेन्ट थे। उन्होंने आश्चर्य से इसका कारण पूछा। मैंने अपने अणुव्रती होने का परिचय दिया और अणुव्रत-आन्दोलन के नियमों से उन्हें अवगत कराया। वे बड़े प्रभावित हुये और उन्होंने प्रति सप्ताह अढ़ाई सेर चीनी मुझे नियंत्रित भावों से मिलती रहे, ऐसा प्रबन्ध कर दिया।

मेरे सत्य बोलने का प्रभाव भी ग्राहकों पर बढ़ता जा रहा है। मेरे साथ सौदा करने में वे किसी प्रकार का अविश्वास नहीं करते। कई बार ग्राहकों के कुछ पैसे मेरे पास अधिक रह गये। मैंने वे पैसे लौटा दिये। परिणाम यह हुआ कि कई बार ग्राहक-जनों के पास मेरे पैसे कुछ अधिक चले गये थे। मुझे इसका पता भी न था। वे ग्राहक स्वयं मेरे पास आये और पैसा लौटाने लगे। मैंने कहा मेरे तो पैसे नहीं होते हैं। उन्होंने हिसाब करके भूल बताई

और पैसे दिये। चलते-चलते उन्होंने कहा—"आप भी हमारे साथ सफाई से पेश आते हैं तो हम आपको धोखा क्यों देंगे ?"

(४)

सचाई पर मुग्ध

मैं तीन वर्ष से अणुव्रती हूँ। अणुव्रत-दृष्टि को समझते हुये मैं खाने-पीने की अनिवार्य वस्तुओं को भी ब्लैक से नहीं खरीदता। विगत अकाल में मुझे अनेकों कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। गेहूँ के बदले जौ व चने और चीनी के बदले गुड़ से काम चलाया। चावल खाने का चिरन्तन अभ्यास मुझे छोड़ ही देना पड़ा। कपड़ा जैसा मिला उससे काम चलाया। अधिकतर मोटा ही कपड़ा पहनना पड़ा, जैसा पहनने का मैं अपने जीवन में आदी नहीं था। स्थितियाँ प्रतिकूल थी तो भी संकल्प को निभाने का विचार अटल रहा। मैंने सोच रखा था यदि यहाँ काम नहीं चला तो नेपाल जाकर रह जाऊँगा, किन्तु कोई भी वस्तु ब्लैक से नहीं खरीदूँगा।

अपने पौत्र के विवाह में नियम-निषिद्ध जीमनवार न हो, इसलिये अपने सम्बन्धियों के घरों में संख्या वार न्योते दिये। प्रथम तो इसके लिये तरह-तरह की बातें लोगों में हुईं, किन्तु मेरे नियमों की स्थिति को समझते हुये बाद में सभी ने इस पद्धति का स्वागत किया।

राशन कार्ड की संख्या सदैव मैंने सच्ची रक्खी। घर का कोई सदस्य बाहर जाता तो मैं राशन कार्ड ठीक करवा लेता। व्यवस्थापकों पर इसका ऐसा प्रभाव पड़ा कि मेरी सच्चाई पर वे मुग्ध हो गये। अब मुझे राशन कार्ड की संख्या

बढ़वाने में दूसरों की तरह श्रम नहीं उठाना पड़ता। अधिकांश व्यवस्थापक यह जानने लगे हैं कि यह अणुव्रती है, अतः झूठे राशन कार्ड नहीं बनवायेगा।

(६)

नहीं खाते वापिस

मैं दिल्ली अधिवेशन पर अणुव्रती बना। वहाँ से कलकत्ते गया और व्यवसाय की टोह में लगा। मुझे कोई ऐसा व्यवसाय नहीं मिला जिसमें बिना ब्लैक चला सकता था। एक अन्य अणुव्रती भाई भी मेरी ही तरह बेकार घूम रहे थे। दोनों ने मिल कर दलाली का काम शुरू किया पर वह भी व्यर्थ। जहाँ जाते लोग दिल्लगी करते अणुव्रती हो गये अब भी भूख लगती है क्या? ब्लैक का व्यवसाय नहीं करना है तब तो घर बैठ कर माला ही फेरा करिये। आखिर निराश होकर हम दोनों को घर ही लौट जाना पड़ा। राजस्थान में आकर भी मैंने कई प्रयत्न किये, पर राजकीय और सामाजिक सहयोग के अभाव में सब निष्फल रहे। बेकारी में कुछ कर्जा भी हो गया, किन्तु नियमों पर चलने की भावना दिन प्रतिदिन जागरूक ही रही।

बिहार के पूर्णिया जिले में गत वर्ष से काम कर रहा हूँ। आसपास के वातावरण में लोग यह जानने लगे हैं—इसके यहाँ ब्लैक नहीं होता। एक बार राजकर्मचारियों को मेरे यहाँ ब्लैक होने का सन्देह हो गया। D.S.O. से मिला और उन्हें बताया कि अणुव्रत-आन्दोलन क्या है और अणुव्रत क्या है तथा मैं इस आन्दोलन का सदस्य हूँ, मेरे यहाँ ब्लैक नहीं हो सकता। उसने एक भी नहीं सुनी और कहा—मैं यह सब कुछ नहीं मानता, दुनियाँ में बहुत प्रकार

के ढोंग चलते हैं। दूसरे दिन इन्सपैक्टर आया और हमारे बही खाते ले गया।

मुझे बहुत चिन्ता हुई कि बिना पूरी जाँच किये ही मेरे पर कुछ कर दिया तो अणुव्रत-आन्दोलन की बहुत निन्दा होगी। लोगों में अणुव्रतियों के प्रति बनता हुआ विश्वास ढह पड़ेगा। मैंने संकल्प किया कि जैसा मैं हूँ, वैसा ही राजकर्मचारियों में प्रमाणित हो जाऊँ तो मैं ६ दिन का उपवास इसी वर्ष करूँगा।

दूसरे दिन इन्सपैक्टर दुकान पर आया और बही खाते वापिस करते बोला-लोग कहते हैं—आप ऐसे आदमी नहीं हैं, हम आपको कष्ट देना नहीं चाहते।

(७)

कर्तव्य पालन में निर्भीकता

मैं जयपुर में अणुव्रती बना। नियमों का ध्यान बराबर रखता हूँ। सप्लाई डिपार्टमेन्ट में इन्सपैक्टर होने के कारण घूस लेने के अवसर आये दिन आते रहते हैं, पर मैं घूस लेने से सदा बचता रहा हूँ। कुछ समय पहले की ही बात है, उदयपुर डिवीजन के भीमपुर गाँव में किसी कार्य विशेष के लिये गया था। मैं अपने मित्र के साथ हलवाई के यहाँ चाय पीने गया। वहाँ हमें शक्कर की चाय पीने को मिली। कारण पूछने पर हलवाई ने हमें बताया—दुकानदारों के पास चीनी तो बहुत है, पर हमें कंट्रोल रेट में नहीं मिलती, सब जगह ब्लैक चलता है। मैंने एक नोट पर हस्ताक्षर कर एक व्यक्ति को चीनी खरीदने के लिये एक दुकानदार के यहाँ भेजा। मैं दूर से देखता रहा। सब वही हुआ जो ब्लैकमार्केटर की दुकान पर हुआ करता है। मैं तत्काल दुकान

पर पहुँच गया और मैंने वही किया जो एक राजकर्मचारी को करना चाहिये। दुकानदार ज्यों ही पुलिस की हिरासत में आया, सारे बाजार में खलबली मच गई। दुकानदार के सम्बन्धी एक पर एक मुझसे और मेरे साथी से मिलने लगे। मैं वहाँ जरा भी नहीं ललचाया, क्योंकि अणुव्रती था और राज कर्मचारी होने के नाते जो मेरा कर्तव्य होता था वही निभाया। व्रतों में कहीं स्खलना न हो, इसका पूर्ण ध्यान रखता हूँ।

(८)

कठिनाइयों में धैर्य

मैं अणुव्रती होने के पहले से ही चोर-बाजार से वस्तु खरीदने और बेचने से परहेज रखता था। अब चोर बाजारी समाप्त होने जा रही है। अब तक मैंने अपना संकल्प अच्छी तरह निभाया है। जीवन-व्यवहार में कठिनाइयाँ अवश्य उत्पन्न हुईं पर मैंने धैर्यपूर्वक सबका मुकाबला किया।

(९)

असम्भव भी सम्भव

अणुव्रती होने के बाद मैं एक विशेष शान्ति का अनुभव करता हूँ। बुराइयों को छोड़ने में सफल हुआ हूँ। तम्बाकू व जर्दा का मैं चिरकाल से व्यसनी था। मुझे कोई भरोसा नहीं था कि मैं इन बुराई से अलग हो सकूँगा पर अणुव्रती होने के पश्चात् यह असम्भवना भी सम्भावना में पलट गई। अब मुझे ऐसा लगता है, मानो मैं कभी तम्बाकू व जर्दे का उपयोग करता ही न था।

(१०)

कर्त्तव्य-निर्वाह के लिए धन-त्याग

मैं एक सप्लाई क्लर्क हूं। नमक के बाजार में बहुत कमी महसूस हुई। व्यापारी लोग ब्लैक मार्केट करने लगे। एक व्यापारी की शिकायत डाइरेक्टर सिविल सप्लाइज के पास पहुंची। शीघ्र ही वहाँ से एक टेलीग्राम कलेक्टर के पास जांच करने के लिए पहुंचा। कलेक्टर महोदय ने मुझे बुलाया और कहा—यह टेलीग्राम आया है, किसी से कहना मत, शाम की गाड़ी में जांच करने के लिए वहाँ पहुंच जाओ। मैं शाम की गाड़ी से वहाँ के लिए रवाना हो गया। स्टेशन से उतरते ही जिस व्यापारी के स्टॉक की मुझे जांच करनी थी उससे अनायोचित ही मिलन हो गया क्योंकि वह भी उसी गाड़ी में उतरा था। स्टेशन से हम दोनों साथ हो गये। मुझे भी वहीं जाना था।

मेरे ख्याल से उसे शंका हो गई कि मैं उन्हीं के लिए आ रहा हूं। मैं भी सोच रहा था, कहाँ ठहरना चाहिए? रिश्तेदारों के यहाँ ठहर सकता था, सुबह आकर स्टॉक चेक कर लेता। लेकिन व्यापारी की तरह मेरे दिल में भी शंका पैदा हो गई थी—व्यापारी स्टॉक में गड़बड़ न करदे। उसे मेरे आने का पता तो चल ही गया है। व्यापारी ने भी अपने यहाँ ठहरने को कहा जिसे मैंने स्वीकार कर लिया। गरमी का मौसम था व्यापारी भी मेरे पास ही सो गया।

सुबह हुआ। मुझे हाथ मुँह धोना था। मैंने व्यापारी से पानी ला देने के लिए कहा तथा साथ ही यह भी कहा कि मुझे आपका स्टॉक चैक करना है, मजदूरों को बुला लें। वह पानी लाया और साथ में नोट भी। रुपये कितने थे

पता नहीं ऊपर दस का नोट दीख रहा था। वह मेरे पास आकर कहने लगा—मेहरबानी कर बोरियाँ मत गिनवाइये। मुझे व्यर्थ की मजदूरी लगेगी। यह मेरी पान-बीड़ी (रुपये) स्वीकार कीजिये। मैं गरीब आदमी मर जाऊँगा। मैंने कहा—माफ करिये, रिश्वत लेने का मेरे त्याग है। मैं आपका दुश्मन तो नहीं हूँ कि बिना कारण फंसा दूँगा। इस पर उसने जबरन मेरी जेब में रुपये डालने चाहे पर वह वैसा नहीं कर सका। इस कशमकश में मेरी जेब भी फट गई। इतने में एक दूसरा व्यक्ति उस ओर आ गया। व्यापारी ने नोट रुपये अपनी जेब में डाल लिये। मैंने बाहर जाते हुए कहा—मुझे इसी गाड़ी से जाना है अतः आप मजदूरों को बुला लें। उसने मेरी गाड़ी का समय चुका दिया फिर भी मैंने तीन जगह रखी हुई सारी बोरियाँ गिनीं। स्टॉक में ८-१० बोरी अधिक निकलीं। मैंने तदनुसार रिपोर्ट कलेक्टर महोदय के आगे पेश करदी। कलेक्टर ने मेरी रिपोर्ट पर विश्वास कर व्यापारी के खिलाफ लिख दिया। तत्सम्बन्धी कागजात आगे भेज दिये गये। इस तरह मैंने अपने कर्तव्य का निर्वाह किया।

(११)

सुबह का भूला शाम को वापिस

मैं एक दफे मद्रास गया। वहाँ मेरे निकट रिश्तेदारों ने भांग छानी और मुझे पीने के लिए बाधित किया पर मैंने अपने त्याग को बताया। उन्होंने बहुत आग्रह किया, पर मैंने नहीं पी।

अब उसका हाल सुनिये—वे नशे में चूर हो गये। एक महानुभाव आधा दर्जन सन्तरे खरीदने बाजार गए। वे

हमेशा बड़े अच्छे मन्तरे लाया करते थे पर आज नशे में लगभग डेढ़ दर्जन सड़े सन्तरे उठा लाये। दूसरे व्यक्ति मेरे साथ बाजार से गये जो वहीं गिर पड़े। उन्होंने कहा—मैं अपने आपको सम्भाल नहीं पा रहा हूँ, आप मुझे वापिस घर पहुँचा दें। मैंने उन्हें वापिस घर पहुँचाया। जब हम भोजन करने बैठे वे भोजन करते ही गए। इस तरह जब दूसरे दिन उनका नशा उतरा तो कहने लगे—आपने बहुत अच्छा किया, आप भी भांग पी लेते तो मैं वापिस कैसे घर आ पाता ?

(१२)

अनीति के पैर खिसके

हमारे गिरवी के साथ-साथ 'आइस वाटर' का भी काम है जिसमें आठ-दस थाने तक की ब्लैक मजे से चल सकती है पर हम ब्लैक का त्याग होने के कारण वैसा नहीं करते। इसका परिणाम यह है कि कभी दुकान बन्द रहती है तो ग्राहक दूसरे दिन आकर ले जाते हैं पर अन्यत्र नहीं खरीदते।

हमने ब्याज की दर भी बहुत घटा दी। इससे बाजार वाले सब नाराज हुए। उन्होंने कहा—आप व्यापार नष्ट कर रहे हैं, ऐसे कैसे काम चलेगा ? हमने कहा—हम पैसा लिखकर दुकान पर बोर्ड नहीं लगा रहे हैं और पच्चास हजार से अधिक का व्यापार करने का भी हमने त्याग कर दिया है।

(१३)

स्वतः परिवर्तन

हमारी एक विशाल पार्टी ने गोठ करने की सोची।

आमलेट आदि का प्रबन्ध पहले ही कर लिया गया था जो कि अण्डों की बनाई जाती है। हम सब वहाँ पहुँचे। मैंने आमलेटों को देखा, कुछ विचारा। क्या करूँ ? यदि न खाता हूँ तो भी ठीक नहीं और खाता हूँ तो नियम-भंग होता है। आखिर मैंने खड़े होकर सब बात कही। साथियों ने मुझे खाने के लिए बहुत कहा, पर मैंने नहीं खाई। नतीजा यह हुआ कि सारे साथियों ने कहा—अच्छा हम भी नहीं खायेंगे।

(१४)

घड़ी की चैन

पहले जब मैं अणुव्रती नहीं था मेरे भाई ने अपने लिए घड़ी की चैन बनवाई तो मैंने भी हठ करके घर वालों को अपने लिए चैन बना देने के लिए बाध्य किया। वह चैन मुझे बहुत प्यारी थी। पर जब मैं अणुव्रती बन गया मैंने उसे सहर्ष खोलकर घर वालों को दे दी क्योंकि अब उसके प्रति कोई मोह नहीं रहा। घर वालों को ताज्जुब हुआ कि जिस चैन को बनवाने के लिए इतना आग्रह किया गया उसे इस तरह खोलकर सहर्ष वापिस कैसे दे दी !

(१५)

पुत्र बनाम नियम

मैं एक स्कूल का प्रबन्धक था। मेरा लड़का मास्टर था, उसे बी० ए० की परीक्षा देनी थी। परीक्षा देने से पूर्व १८ महीने सर्विस करना जरूरी है और उसके इस अवधि में चार दिन कम होते थे। मैंने उसे साफ कहा—मैं झूठा सार्टीफिकेट नहीं दे सकता। उसने कुछ देर तो देने के लिए

कहा, अन्त में उसने कहा—मत दीजिए मुझे क्या हानि, हानि तो आपकी होगी। आखिर मैंने रजिस्ट्रार को लिखा। उसका जवाब आया—एक सप्ताह की कमी होने तक आप सार्टीफिकेट दे सकते हैं। मैंने सार्टीफिकेट दिया और उसके साथ उसकी वही तहरीर लगा दी। मुझे नियमों का ख्याल अधिक रखना है, सम्बन्ध, रिश्ते और पैसे की तुलना में।

(९६)

झूठा प्रमाण-पत्र

मैं दो साल से एम० ए० की परीक्षा न दे सका। फीस जमा कराता रहा। बीमारी आदि के कारण परीक्षा न दे सकने पर सर्टिफिकेट देने से फीस अगले साल के लिए ट्रांसफर की जा सकती है। पर मैं परीक्षा के समय बीमार नहीं था। हां, पहले बहुत बीमार रह चुका था। मेरे साथियों ने झूठा प्रमाण-पत्र प्राप्त करने के लिए कहा। मैंने ऐसा करने से साफ इन्कार कर दिया।

(९७)

क्रोध पर विजय

मैं अणुव्रत-आन्दोलन के प्रारम्भ से ही अणुव्रती बना हुआ हूं। मुझमें गुस्से की मात्रा कुछ अधिक थी। प्रधानाध्यापक होने के कारण सैकड़ों छात्र व बीसों अध्यापकों की देखरेख मुझे करनी पड़ती थी। बात-बात में मेरा मिजाज गरम हो जाता था। अब धीरे-धीरे मैं क्रोध की आदत को प्रेम की आदत में बदलता जा रहा हूँ। अब मैं हर समय सावधान रहता हूँ कि गुस्सा आये ही नहीं, यदि आ ही जाये तो मन की चहार दिवारी को लांघ कर जबान तक नहीं पहुंचे।

कई बार ऐसा भी हुआ है कि मैंने किसी अपने सहयोगी अध्यापक को कड़ा उलाहना दे दिया। क्रोध शान्त होते ही उसे वापिस बुलाकर कड़ी बात कह देने के लिये क्षमा-याचना की। अब मैं विद्यालय का इन्चार्ज होते हुए भी गांधी विद्या मन्दिर (सरदार शहर) का एक कर्मचारी हूँ। वहाँ भी मुझे बहुतों के सम्पर्क में रहना पड़ता है, पर सबके साथ में उक्त प्रकार से ही पेश आता हूँ। गुस्से की आदत प्रेम में परिणत कर देने का फल यह हुआ कि मेरे प्रति सहयोगियों की जो श्रद्धा आज मैं देख रहा हूँ वह मैंने कभी नहीं देखी थी।

दूसरी बात जो अणुव्रती होने के बाद में आई, वह निर्भीकता है। आलोचना करने वाले मेरी आलोचना करते हैं पर मेरे मन में कोई क्षोभ व भय उत्पन्न नहीं होता। मैं सोचता रहता हूँ कि जब अपने रास्ते से चलता हूँ तो लोग मुझे कुछ भी कहें उससे मुझे क्या ?

जीवन में और भी अनेक बुराइयाँ हैं। मैं एक-एक बुराई को क्रमशः छोड़ते जाना अपने जीवन का ध्येय मानता हूँ।

(१८)

विश्वासपात्र बन गया

मैं अपने जीवन के विषय में क्या बताऊँ। सैकड़ों व्यक्ति जानते हैं मेरा जीवन किस प्रकार बुराइयों का खजाना था। अणुव्रतियों की जमात में बैठना दूर रहा, सामान्य श्रेणी के लोगों में बैठने के योग्य नहीं था। आज मैं अणुव्रती हूँ। इसे लेकर भी किसी को शिकायत नहीं है। अणुव्रती होने के बाद बहुत सारे अवसर मेरी परीक्षा के आये। किसी अवसर पर मैंने कमजोरी का परिचय नहीं दिया।

एक दुकानदार के साथ मैंने कुछ कपड़ा खरीदा था। मैंने उसके साथ पहले ही वादा कर लिया कि इस माल की बिक्री से ब्लैक नहीं किया जायेगा। फिर भी मुझे उस पर सन्देह हुआ। मैं स्वयं उसकी दुकान पर बैठ वह माल कंट्रोल रेट से लोगों को देने लगा। कुछ ही दिनों में लोग मुझे भली भांति जानने लगे, यह अणुव्रती है, चोर बाजारी नहीं करता। दुकान पर मेरे जाने से ही ग्राहक निःसन्देह होकर माल लेता। मुझे उस समय ऐसा लगता कि लोगों में सचाई नहीं है पर सचाई से प्रेम अवश्य है।

(१६)

प्रयत्न द्वारा नियन्त्रण

और तो सभी नियमों का पालन यथा विधि चला। मुँह से गाली निकाल देने की मुझमें भरपूर आदत थी, वह भी औरों के लिये नहीं किन्तु घर वालों के लिये ही। हालांकि विधानानुसार जितनी बार गाली मुँह से निकलती उतने ही खाने पीने के द्रव्य निर्धारित संख्या से घटा देता, फिर भी मैं समझता था और समझता हूँ, यह अणुव्रती के लिये एक अशोभनीय बात है। इस वर्ष मैं इस आदत को छोड़ देने के लिये प्रयत्नशील रहा। मैं अपने प्रयत्न में सफल भी हुआ। अब वह आदत मेरे में नाम मात्र ही शेष रह गई है।

(२०)

राज्यनियम का पालन

मैं अणुव्रत-आन्दोलन के प्रारम्भ से ही अणुव्रती बना था। अणुव्रती होने के बाद जीवन में मुझे परम शान्ति मिली। आत्मा में व्रत-पालन की इतनी बड़ी निष्ठा रहती

है कि प्रत्येक स्थिति में व्रत-पालन का प्रश्न मुख्य और अन्य प्रश्न सब गौण हो जाते हैं।

एक बार लड़के के विवाह का विषय इतना गम्भीर हो गया कि लड़की वालों ने कहला भेजा "आप विवाह में ढील करेंगे तो हम अपनी लड़की का दूसरा सम्बन्ध कर देंगे।" मेरे पिता जी भी अणुव्रती हैं। लड़का भी १८ वर्ष से पूर्व विवाह करना नहीं चाहता था। हमने बिना किसी हिच-किचाहट के कहला भेजा—"हम अणुव्रती हैं। यह हमारा नियम है—'राजकीय नियम से अल्पवयस्क कन्या, पुत्र आदि का सम्बन्ध नहीं करना', अतः इस नियम को लांघ कर किसी भी हालत में विवाह नहीं करेंगे। आप कुछ भी करें हम बाध्य नहीं होंगे।" आखिर हमारी निर्भयता का परिणाम सुन्दर ही रहा।

(२१)

जीवन-पथ सरल हुआ

अणुव्रती होने के बाद सबसे अनूठा अनुभव तो यह हुआ कि जीवन की गाड़ी अब अपने आप चलती है। पहले हर छोटे बड़े कार्य के लिये सोचना पड़ता था, "यह करूँ या न करूँ"? उदाहरण स्वरूप घर में विवाह आदि का प्रसंग उत्पन्न होते ही सोचना पड़ता था—मर्यादित जीमनवार करूँ या अमर्यादित जीमनवार करने के लिये रास्ता खोजूँ। यह एक बहुत बड़ी उलझन हो जाती थी। तबियत कुछ और होती तथा घर वालों का दबाव कुछ दूसरा होता। एक समझौता घर वालों से करना पड़ता, तो एक राज-कर्मचारियों से। अब इस विषय में तत्काल एक निश्चित उत्तर हो जाता है। सारी स्थिति ही अपने आप तदनुरूप

रह जाती है। अणुव्रत-आन्दोलन के नियम नहीं करने के कार्यों की एक तालिका है। तात्पर्य है कि सारा जीवन ही एक निश्चित रूप-रेखा में आ जाता है।

अणुव्रती होने से पूर्व मैं अपने में कुछ क्रोध की मात्रा अधिक पाता था। अब मैंने इस विषय में अपने आपको बहुत कुछ सम्भाल लिया है।

(२२)

आदर्श सामाजिक जीवन

अणुव्रती हो जाने से कदम-कदम पर अपने आपको संभाल कर चलना पड़ता है, यह मुझे हमेशा अनुभव होता है। यह भी निःसन्देह मानता हूँ कि अणुव्रती में आत्मबल के साथ-साथ पाप-भीरुता भी पर्याप्तया बढ़ जाती है। बहुत वर्षों से मैं सार्वजनिक प्रवृत्तियों में भाग लेता हूँ। वहाँ विचार-भेद का संघर्ष सामने आता ही रहता है, किन्तु मत-भेद के साथ मन-भेद न हो, इसी आदर्श पर मैं अपने को चलाने का प्रयत्न करता हूँ।

(२३)

पारिवारिक सहयोग से उत्साह

अणुव्रती होने के पश्चात प्रकृति की प्रवृत्ति में पर्याप्त अन्तर आया है। त्याग भावना की भी बराबर वृद्धि होती है। आत्मालोचन व आत्म-मनन में काफी समय लगाता हूँ।

पौत्र पौत्री के विवाह में 'जीमनवार' को लेकर कुछ दुविधा अवश्य हुई। कई बार वर वाले भी जीमनवार में सम्मिलित होने से वंचित रहे, कई बार जमाई लोग जीमन-वार में सम्मिलित हुये, परन्तु लड़कियाँ सम्मिलित न हो

सकीं। कई बार आगन्तुकों को भी कहला देना पड़ा, "आप इतने ही व्यक्ति जीमनवार में सम्मिलित हों"। पारिवारिक जनों का सहयोग होने से प्रायः सभी ने ठीक ही माना। और भी हर कार्यों में पारिवारिक जनों का प्रशंसनीय सहयोग रहता है। इससे मुझे अणुव्रत के नियम पालने में बड़ा बल मिलता है। अणुव्रती होने के बाद व्यवसाय भी काफी सीमित कर देना पड़ा।

(२४)

कठिनाइयाँ स्वतः दूर

जीमनवार के नियम को लेकर कुछ कठिनाइयाँ आतीं पर अपने नियमों पर डटे रहने से सारी कठिनाइयाँ हवा हो गई। लड़की के विवाह के अवसर पर मैंने वर-पक्ष को अपनी सारी स्थिति समझाई। उन्होंने भी मेरे नियमों में बाधा पड़े, ऐसा आग्रह नहीं रखा, और भी सारी स्थितियाँ अनुकूल हो गई।

(२५)

नियम संघर्ष

लगभग एक वर्ष पूर्व मैं अणुव्रती बना था। इस वर्ष मुझे एक विशेष अनुभव हुआ। परिवार में मेरे छोटे भाई की शादी का सिलसिला उठा। निर्धारित राजकीय नियम के अनुसार वह अल्पवयस्क था। वह स्वयं भी सुधारवादी था। मैंने तथा मेरे साथियों ने भी वयस्क होने से पूर्व विवाह न करने की सलाह दी और उसको तत् सम्बन्धी अणुव्रत-आन्दोलन का नियम भी बताया। फलतः उसने घर वालों को विवाह करने से स्पष्टतः इन्कार कर दिया। बस फिर

कथा था घर वालों की हम दोनों से लड़ाई छिड़ गई। सब आक्रोश मुझ पर पड़ा। सब कहने लगे—कुबुद्धि फैलाने वाला यही है यह चाहे तो बच्चे का दिमाग अब भी फिरा सकता है। "इतने से ही अन्त न हुआ, बात और भी आगे बढ़ गई। रूढ़िग्रस्त मुहल्ला, सारा गाँव तथा सम्बन्धी भी मेरे पीछे पड़ गये। घर वालों से लेकर गाँव भर ने मेरे साथ असहयोग कर दिया। परिणाम स्वरूप मेरी पढ़ाई पर बहुत धक्का लगा। अणुव्रती होने के नाते सब कुछ मैंने शान्ति-पूर्वक सहा और अपने आदर्श पर अटल रहा।

(२६)

भावना से ऊँचा कर्तव्य

अणुव्रती होने के बाद मुझे अपूर्व मानसिक सन्तोष मिला। प्रकृति में भी काफी सुधार पाती हूँ। जीमनवार के नियम में कुछ अड़चन आई पर मैं सफलतापूर्वक पार कर गई। मेरे छोटे भाई का विवाह था। ऐसे अवसर पर पिता के घर भोजनार्थ न जाना एक समस्या थी, पर मैं अणुव्रती होने का ध्यान रखती हूँ अपने पीहर भी नियम निषिद्ध जीमनवार में शामिल नहीं हुई। अन्य व्रतों के पालन में भी यथासम्भव सावधानी रखती हूँ।

(७२)

आदर्श पथ असम्भव नहीं

लोग कहते हैं—आज के जमाने में आदर्श पर चलना दुस्साध्य ही नहीं, असम्भव है। मैं कहता हूँ—आदर्श पर चलने की हमारे में हिम्मत नहीं होती, इसलिये असम्भव है। हम यदि आदर्श पर मरना सीखें तो हमारी दुविधाएं अपने

आप मर जायेंगी। मैं अपना ही हाल बताता हूँ। मैंने कुछ दिनों पहले एक पेपर मिल चलाने का विचार किया। मिल चलाने में लगभग १० हजार रुपयों का व्यय सम्भावित था। असत्य बोलकर या घूस व ब्लैक देकर कोई भी काम न करने और न करवाने की मेरी शपथ थी। इस प्रकार की शपथ लेकर मिल चलाने की बात सोचनी और वह भी आज के जमाने में लोगों के विचार से एक आकाशी उड़ान थी। मैं पूरे आत्म-बल के साथ काम में जुट गया। दिक्कतों पर दिक्कतें आने लगीं। उधर जोरों से काम शुरू हुआ, इधर बाजार से सीमेन्ट मिलनी बन्द हो गई। बाजार में सीमेंट की कमी नहीं थी। अन्दाजा लगाया गया, उस समय सीमेंट की १५००० बोरियाँ दुकानदारों के पास थीं। बिना ब्लैक दिये एक बोरी के भी दर्शन नहीं होते थे। काम ठप्प हो गया। हर्जा होने लगा। दलाल लोग कहने लगे—जितना हर्जा आपके काम ठप्प कर देने में है उतना ब्लैक देकर सीमेंट खरीदने में नहीं। हम कम से कम ब्लैक देकर आपको माल दिलवायेंगे। मैंने कहा—सवाल हर्जाने का नहीं, आदर्श का है। मैं अपने आदर्श के लिये सब कुछ त्याग सकता हूँ। ज्यादा जोर देने पर मैंने दलालों से कह दिया—'बाबा! तंग क्यों करते हैं, सीमेंट मुझे खरीदनी है या आपको ?"

सोचा, राजकर्मचारियों से विशेष सहयोग लिया जाय पर वहां ब्लैक की बहन रिश्वत आगे खड़ी थी। कुछ दिनों बाद अपने आप एक प्रसंग बना और मन चाही सीमेंट मुझको मिली, वह भी इस सुविधा से कि पीछे की सारी कसर पूरी हो गई। इसी प्रकार लोहा, बिजली, ईंट, कोयला आदि को लेकर विभिन्न प्रकार की दिक्कतें सामने आईं

ओर आती रहती है। कुछ मकानों की दिवारें खड़ी हैं। सामग्री के अभाव में छत नहीं बन पाई। आज तक जितनी समस्यायें आयीं उनका अन्त किसी विशेष अच्छाई के साथ हुआ। अब ऐसा लगता है कि सारी समस्यायें मेरे आदर्श की परीक्षा के लिये व अच्छाई के लिये आई थीं। जो समस्यायें सामने हैं वे भी किसी अच्छाई के लिये खड़ी हैं।

(१८)

भटकने के बाद सफलता

मैं अणुव्रत-आन्दोलन के उद्घाटन समारोह के अवसर पर ही अणुव्रती बना था। कुछ दिन बाद मैं नौकरी व किसी व्यवसाय की खोज में कलकत्ता गया। एक जूट के व्यापारी से नौकरी के लिये बातचीत की। वह नौकरी देना चाहता था। वेतन की कोई असमंजसता नहीं थी। मैंने स्थिति को पहले ही स्पष्ट कर देना उचित समझा। मैंने कहा—"मैं अणुव्रती हूं। आप भी अपने काम पर किसी भले आदमी को रखना चाहते हैं जिससे धोखा न हो पर मैं यह स्पष्ट कर देता हूँ कि मैं न तो आपको ही धोखा दूँगा और न दूसरों को ही। ब्लैक, मिलावट, झूठा तोलमाप आदि मैं कुछ नहीं करूँगा।" सुनते ही सेठ का माथा ठनका। वे ऊपर की ओर देखकर सोचकर बोले—"अच्छा, आपको बही खाते का काम दे दिया जायेगा।" मैंने कहा—"यदि आप झूठा लिखवाना चाहेंगे तो मैं..............." सेठ जी तमक कर बोले- आप तो कुछ नहीं कर सकेंगे तो दुकान पर बैठ कर मैं आपकी पूजा करूँगा ?" मैंने कहा—"पूजा करने का कोई प्रश्न ही नहीं है, असत्य से बचाकर मेरा

आप चाहे जो उपयोग कर सकते हैं।" पर वास्तव में मैं उनके लिये अनुपयोगी ही था। वहाँ से निराश होते ही मैं एक कपड़े के व्यापारी से जा भिड़ा। वहाँ भी वही घटना घटी। तत्पश्चात् मैंने काशीपुर में जूट की दलाली करने की सोची। वहाँ भी देखा--सूखे-गीले सब एक भाव जलते हैं। इसी प्रकार और भी दो-चार प्रकार के धन्धों में हाथ डाला किन्तु सब ओर निराशा ही निराशा मिली। मैं समझता रहा कि यह मेरे अणुव्रतीपन की कसौटी है। मुझे इस पर खरा ही उतरना है। आखिर दो मास की बेकारी के बाद एक धन्धा मेरे हाथ आया और चार महीने तक मैंने उसे चलाया। छः महीनों में साधारणतया जो मेरी आय होती उससे दुगनी आय शेष चार महीनों में हो गई। तत्पश्चात् मैं अपने घर आ गया। उसके बाद से मेरी आजीविका व्यवस्थित रूप से चलती रही। मुझे तो अब पूरा भरोसा हो गया है कि आत्म-निष्ठा के साथ जो आदर्श पर डटा रहता है, उसकी सब अड़चनें अपने आप दूर हो जाती हैं।

(२६)

मिथ्या धारणा का अन्त

मैंने गत १० वर्ष जूट का काम किया। मैं जानता था कि जूट के काम में पांच प्रकार की बुराइयाँ आमतौर से चलती हैं। वजन बढ़ाने के लिये पानी देना, तोल माप में झूठ चलाना, क्वालिटी में हेरफेर करना, झूठा झमेला खड़ा करना, माल कम बांध कर बिल पूरा बनाना। काम चालू करने के पहले ही मैंने संकल्प कर लिया था कि मुझे इन पाँचों बुराइयों से बचकर चलना है। लगभग १२ महीने

तक मैं अच्छी तरह काम करता रहा, वह भी अच्छी मात्रा में। मैंने अपना संकल्प अच्छी तरह से निभाया। उक्त बुराइयों में से किसी एक का भी मैंने आचरण किया हो, ऐसा मुझे याद नहीं। उस व्यवसाय में मैंने आर्थिक लाभ भी अच्छा उठाया। अब मेरा तो यह दृढ़ विश्वास बन चुका है कि लोग जो यह कहा करते हैं कि जूट का काम इन बुराइयों से बचकर कोई चला ही नहीं सकता, यह नितान्त मिथ्या है।

(३०)

भय मिट गया

अणुव्रती होने का सबसे बड़ा लाभ मुझे यह मिला कि मैं निर्भय हो गया। व्यवसाय व विवाह-जीमनवार आदि अनेक बातों को लेकर राजकर्मचारियों का भय हमेशा रखना पड़ता था, किन्तु अब किसी का कोई भय मेरे पास तक नहीं आता। चालानी का काम है। प्रतिवर्ष लगभग १ करोड़ का माल चालान करते हैं। ब्लैक से खरीदने या बेचने का सम्बन्ध ही नहीं रखते। हम किसी से क्यों डरें?

(३१)

व्यवसाय घटा, शान्ति बढ़ी

अणुव्रती होने के बाद चालू व्यवसाय में मुझे हेर-फेर करना पड़ा। क्योंकि व्रतों को सुरक्षित रखते हुये उसमें चल सकना कठिन ही नहीं असम्भव था। दूसरे व्यवसाय से मेरी इन्कम बहुत ही कम रह गई है तो भी व्रत पालन का उत्साह बढ़ता ही जा रहा है। अणुव्रती होने के पश्चात् मैं अपने जीवन में अपूर्व शान्ति का अनुभव करता हूँ।

(३२)

विश्वास और प्रतिष्ठा में वृद्धि

अणुव्रती होने के बाद जिस डिपार्टमेन्ट में मैं काम (सर्विस) करता हूँ, मेरी प्रतिष्ठा बढ़ती आ रही है। छोटे बड़े सभी कर्मचारी हर काम में मेरा विश्वास करने लगे हैं। धीरे-धीरे मुझे ऐसा भासते जा रहे हैं—वे अणुव्रती हैं, इनका जीवन ऊँचा है। बड़े कर्मचारियों से मैं जब भी छुट्टी लेना चाहता हूँ वे विश्वासपूर्वक मुझे आवश्यकतानुसार छुट्टी दे देते हैं।

(३३)

न्यायालय से छुटकारा

मैं अणुव्रती होकर घर गया और घर वालों से बोला कि मैं अणुव्रती बन गया हूँ अतः अपने व्यवसाय में चोरी नहीं होनी चाहिये। यदि यह बन्द नहीं हुई तो मुझे पृथक् व्यवसाय करना पड़ेगा। समझाने बुझाने से उन्होंने मेरी बात मानली और ब्लेक विषयक नियम मेरे कुल सहज बन गया। मुझे इसकी भी बहुत खुशी हुई कि मेरे कारण घर वाले भी इस बुराई से बचे।

थोड़े ही दिनों में यह बात प्रसिद्ध हो गई कि इनकी दुकान पर ब्लैक नहीं होता। हमारी दुकान को लोग प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखने लगे। इसका सुन्दर परिणाम यह हुआ कि मेरे अणुव्रती होने से पहले ही एक ब्लैक का मामला मेरी फर्म के साथ चल रहा था। न्यायाधीश ने यह मानते हुये कि सब लोग यही मानते हैं कि इनके यहाँ ब्लैक नहीं होता, मामला खारिज कर दिया।

(३४)

स्वयं सुधरा, भाई को सुधारा

मुझे अणुव्रत-साधना में आये हुये १८ महीने हो गये। इन महीनों में मैंने अपूर्व शान्ति और सुख का अनुभव किया। बहुत पहले का मेरा जीवन एक दूसरी स्थिति में था, नाना व्यसन और तामसिक प्रवृत्तियों से परिपूर्ण। आन्दोलन के प्रवर्तक आचार्य श्री तुलसी की सत्संगति और सत् शिक्षा के परिणाम स्वरूप मैं एक-एक बुराई को छोड़ता हुआ अणुव्रती होने के स्तर पर पहुँचा। जीवन-सुधार की यह प्रक्रिया मेरे लिये सदैव आनन्दप्रद रहती है।

अपने सुधार के अतिरिक्त दूसरा कार्य जो मेरे हाथों से हुआ वह यह है:—मेरा छोटा भाई नाना बुराइयों में फंसा था। उसमें भी सम्भावित बुराइयों की परिपूर्णता थी। मेरे सामने यह एक बहुत बड़ी समस्या थी। यदि मैं धैर्य और शान्ति से काम न लेता तो उसका जीवन बेकार हो जाता और मुझे भी जीवन भर के लिये एक दुःख होता किन्तु मैं उसकी भूलों को क्षम्य मानता गया। भाई आज अत्यन्त सुशील और आज्ञाकारी है। प्रसंगवश वह स्वयं भी यही कहता है—भाई जी! आपने ही मेरा जीवन बनाया है। अस्तु—बहुत लोग कहते हैं—"अणुव्रती होने के पश्चात् व्यक्ति व्यवसाय में आगे नहीं बढ़ सकता।" मेरा तो अनुभव है व्यवसाय में अणुव्रती होने के बाद जो मुझे सफलता मिली है वह जीवन में मुझे पहले नहीं मिली थी।

(३५)

रोग के पंजे से मुक्ति

"मृतक के पीछे प्रथा रूप से न रोना" यह नियम मेरे

लिये बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुआ। अणुव्रती होने के पूर्व जब एक निकट सम्बन्धी की मृत्यु हुई, प्रथा के अनुसार मैं बहुत रोई। परिणाम यह हुआ कि मैं बीमार हो गई और महिनों तक मुझे कष्ट पाना पड़ा। अणुव्रती होने के पश्चात् भी एक सम्बन्धी की मृत्यु हुई। मैं प्रथा को निभाने के लिये रोई नहीं। किसी ने कुछ कहा, किसी ने कुछ पर उससे मेरे त्याग को निभाने का आत्मबल घटा नहीं। परिणामतः मैं आर्तध्यान के कर्मों से भी बची और आने वाली बीमारी से भी

(३६)

सत्य का मूल्य

एक सप्लाई क्लर्क होने के नाते सम्बन्धित अफसर ने मुझे बुलाकर कहा—स्टॉक में सीमेंट कम है और मांग ज्यादा है। जान पहचान के कुछ व्यक्तियों को सीमेंट दिलाना है। अतः आप अपनी रिपोर्ट में अधिकांश की दरख्वास्त पर स्टॉक में सीमेंट न होने का लिख देना। मैंने कहा—श्रीमान्! माफ करें, मैं गलत रिपोर्ट नहीं दे सकता। मेरे लिए सब समान हैं। आपको ऐसा ही करना है तो मुझसे रिपोर्ट न मांगें, जिन्हें दिलाना चाहें उनकी दरख्वास्त पर आॅर्डर लिख दे, मैं परमिट बना दूँगा। उन पर इसका इतना प्रभाव पड़ा कि मेरे द्वारा पेश किये गये कागजों पर वे बिना संशय किये हस्ताक्षर कर देते हैं। यहाँ तक कि कभी-कभी तो दूसरे विभागों के कागजात मेरे पास भेज कर कह देते हैं कि इन पर आर्डर लिख देना, मैं हस्ताक्षर कर दूँगा।

सत्य में काफी शक्ति है, यह मेरा अनुभव है।

(३७)

आन्दोलन का हार्दिक स्वागत

सामाजिक स्थिति नियमों के प्रतिकूल है। तो भी लगता है थोड़े-से अणुव्रतियों का समाज पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। कई जगह होने वाले बृहत् जीमनवारों में निकट के सम्बन्धी अणुव्रतियों को शामिल करने के लिए ही वह नियमबद्ध बन जाता है अर्थात् दो सौ, चार सौ आदमियों की जगह सिर्फ २५, ५० या जितना राजकीय नियम हो उतने ही आदमियों का वह मर्यादित हो जाता है। मैं अणुव्रती होने के कारण बहुत से जीमनवारों में सम्मिलित नहीं हो सकता हूँ। जहाँ लोगों ने मेरे हाजिर न होने का कारण जाना तो उन्होंने अणुव्रत-आन्दोलन का हार्दिक स्वागत किया।

(३८)

झगड़ा शान्त

जब आचार्य श्री तुलसी का हमारे शहर में आना हुआ मैंने अणुव्रतों की साधना में नाम लिखाया। इसको लेकर ससुराल वालों ने बहुत कुछ कहा। कई दिन झगड़ा भी चला। पर मैंने सब कुछ शांतिपूर्वक सुना और सहा। अगले वर्ष में साधना से त्याग में आगई। मुझे खुशी है कि एक साल की इस अवधि के बाद अब आनन्द ही आनन्द है। सारा झगड़ा शान्त हो गया है।

(३६)

प्रतिष्ठा

एक मामले में साक्षी देने के लिए मैं अदालत में गया और अपनी साक्षी दी। न्यायाधीश ने जाना कि यह अणुव्रती है,

इससे मेरी साक्षी को सही मान उन्होंने उसी के मुताबिक फैसला दिया। अणुव्रतों को ग्रहण करने से समाज में अणुव्रतियों की प्रतिष्ठा बढ़ी है और आगे भी बढ़ेगी। अणुव्रतियों को भी अपना व्यवहार-प्रतिष्ठा जैसा रखना चाहिए इसी से वह स्थिर बनेगी। आचार्यप्रवर! मैंने अणुव्रत साधना में मेरी दृष्टि से नियमों का विधिवत् पालन किया है इस पर भी किसी नियम को मैं पूरी तरह न निभा सका होऊँ इसके लिए आप मुझे जो प्रायश्चित्त देंगे उसको मैं सहर्ष स्वीकार करूँगा।

(४०)

कोई अछूत नहीं

लोग हरिजनों को अछूत समझकर घृणा की दृष्टि से देखते हैं। मैं एक बार राजस्थान से रवाना हुआ। मार्गस्थ एक स्टेशन से १५-२० हरिजन महिलाएँ व पुरुष डिब्बे में घुसे। यहाँ तक नौबत आई कि वे मेरे ऊपर तक आ गये। एक दफे तो क्रोध-सा आया पर ज्योंही अणुव्रतों का ख्याल आया वह जाता रहा।

(४१)

आत्मबल की प्राप्ति

अणुव्रतों की साधना स्वीकार करने के बाद सामाजिक जीवन में कुछ एक कठिनाइयां अनुभव हुई। लेकिन अपनी प्रतिज्ञाओं पर मैं दृढ़ रहा। इसका फल मुझे अच्छा मिला। मेरे एक अति निकट सम्बन्धी ने मेरा नाम अपने एक मामले में गवाह के रूप में लिखवाना चाहा। मैंने कहा—

नाम लिखाना हो तो लिखाओ, मुझे इसमें कोई एतराज नहीं है लेकिन मैं अणुव्रती होकर नियमानुसार असत्य साक्षी नहीं दूँगा। सत्य साक्षी से उसका काम होने वाला नहीं था। अतः उसने मेरे पर बड़ा दबाव डाला। परन्तु मैं मेरे नियमों में दृढ़ रहा। इससे कुछ कुटुम्बी नाराज हुए, पर मुझे बड़ा आत्मबल मिला।

(४१)

आमदनी घटी पर आत्मबल बढ़ा

मैं दलाली करता हूँ। अणुव्रती होने से पहले मैं बहुत आसानी से सौदे में कटौती करता था परन्तु साधना स्वीकार करने के बाद मैंने एक भी दिन, एक भी बार कटौती नहीं की। इससे मेरी आमदनी जरूर घटी है पर आत्म-सन्तोष बहुत मिला है। वह इसलिए कि मैं एक आदर्श को निभा रहा हूँ।

(४२)

कष्ट से बाल बाल बचे

अणुव्रती होने व नियमों पर चलने से मैं एक बहुत बड़े सम्भावित कष्ट से बचा। लगभग ८ वर्ष पूर्व मेरे पिताजी का देहावसान हुआ। हमारी समाज परम्परा के अनुसार सहस्रों आदमियों का वृहत् जीमनवार करना आवश्यक रहता था। अणुव्रत नियमों में वृहत् जीमनवार व राज्य नियम से निषिद्ध जीमनवार न करने का नियम है। मैं यह भी जानता था ऐसे अवसर पर बिरादरी-भोज न करने से समाज में नाना प्रकार की कटु एवं आक्षेपात्मक आलोचनायें होंगी। मैंने अपनी समस्या अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक आचार्य श्री

तुलसी के सामने रखी। उनके मुख से ऐसे शब्द निकले—"नियम पालन में आलोचना की परवाह नहीं हुआ करती।" मेरा साहस और भी बढ़ गया और मैंने अपने भाइयों के साथ सलाह करके नियम निषिद्ध जीमनवार न करने की घोषणा करदी और समाज-व्यवहार के नाते पिता श्री की स्मृति में एक लाख रुपयों का विभिन्न सार्वजनिक हितों के लिये दान बोल दिया। इन सबके अनन्तर ही मुझे विश्वस्त रूप से पता चला कि स्थानीय राज्याधिकारियों ने जीमनवार में हमारे पर कानूनी कार्यवाही करने की सम्पूर्ण तैयारी कर रखी थी पर यह सब सुनकर उनकी आशाओं पर पानी फिर गया। अणु-अणुव्रत के नियमों का दृढ़तापूर्वक पालन करने से उस कष्ट से हम सब बाल बाल बच गये।

(४४)

आनन्द का अनुभव

अणुव्रती होने के पश्चात् मैं अपने जीवन में सब प्रकार से आनन्द व उल्लास का अनुभव करता हूँ। तम्बाकू व भाग का मैं २० वर्षों से व्यसनी था अब मैं दोनों वस्तुओं का व्यवहार पूर्णतया छोड़ चुका हूँ। पान खाने की आदत भी बहुत बढ़ी हुई थी। प्रतिदिन ३०, ३५ पान मुझे जरूरी होते थे। पर अब साधना करते करते मैंने इतना संयम तो कर ही लिया है कि एक या दो पान से अधिक कभी नहीं खाता। मैं इन सब बातों को याद करता हूँ तो मेरे हृदय में एक नई स्फूर्ति आती है और अपने आत्मबल पर एक भरोसा बनता है।

अणुव्रती बनने के पश्चात् रहस्यमयी बात तो यह हुई कि विगत एक दो वर्षों से मुझे १०० रुपये मासिक नौकरी मिल

रही थी। महंगे भावों से कठिनता से गुजारा चलता था। अणुव्रत-ग्रहण करने के तीसरे ही दिन मेरे सेठ ने मेरी तनख्वाह अनायास ही २०० रुपये मासिक की करदी।

(४५)

आदर्श पर अटल

अणुव्रती बनने के बाद बाजार तथा ग्राहकों का विश्वास मेरे प्रति बहुत बढ़ा। यहाँ तक कि बहुत सारे ग्राहक मुझे भाव पूछते ही नहीं जो वस्तु लेने की होती है ले लेते हैं और मेरे कहने के अनुसार बिना किसी ननुनच के दाम दे देते हैं।

पिछले दिनों व्रतों की कसौटी का भी एक अवसर आया। इन्कम-टैक्स के विषय को लेकर झूठ मूठ मामला बन गया। केवल २५रुपये की घूस दे देने में मामला निपटा या भी जा सकता था। विशिष्ट अणुव्रती के आदर्श को सामने रख मैंने ऐसा चाहा नहीं। मैं जानता था ऐसा न करने से झंझट बढ़ेगा और आगे चलकर फैसला भी सत्य ही होगा, ऐसी बात नहीं है। आखिर यही हुआ कि लेनदेन का मुनाफा मान ३०० रुपये का झूठा टैक्स मेरे से ले लिया। मुझे इसका कष्ट नहीं, मैं अपने आदर्श पर टिक सका; इसका हर्ष है।

(४६)

अणुव्रत जीवन में सुखानुभूति

मैं एक राजकर्मचारी हूँ। मेरे सब साथियों के मेरे जैसे विचार नहीं हो सकते। मुझे इन तीन चार वर्ष के समय में अनेक अधिकारियों, साथियों एवं अधीनस्थ कर्मचारियों से काम पड़ा है। राज्य कर्मचारियों में रिश्वत की बुराई लोक प्रसिद्ध है। यद्यपि बहुत से सज्जन पुरुष भी हैं, जो इस बुराई से कोसों

दूर है और बहुतों ने अपना रवैया बदल भी दिया है। म उनकी उपेक्षा नहीं करता और न मैं अपने आपके लिये गर्व ही करता हूँ। तथापि सच्ची बात यह है कि रिश्वत नहीं लेने वालों को संघर्ष का सामना करना पड़ता है। उनके साथी तथा अधीनस्थ और सम्पर्क में आने वाले भोले भाले तथा धूर्त भी जो कुछ रिश्वत देकर या दिलाकर स्वयं का अधिकाधिक लाभ उठाते हैं—उनके सामने प्रलोभन रखते हैं, जिनको ठुकराने से उनके साथ कटुता होती है और वे लोग किसी दूसरे के द्वारा अपना इष्ट उन्हीं साधनों द्वारा पूरा कर लेते हैं तब ताने मारते हैं—आप धर्मात्मा बने रहे। दूसरे काम कर ही लिया। आपके बजाय अमुक ने अपना धन और यश दोनों प्राप्त कर लिया है। ऐसे मनुष्य कुछ वैसे ही अधिकारियों के कृपा पात्र हो जाते हैं, मौसेरे भाई बन जाते हैं और ऐसे दिलचस्प कार्य वे ले लेते हैं। समाज में भी उनकी पूछ व प्रतिष्ठा बढ़ जाती है।

लेकिन इतना होते हुये भी मुझे अनैतिक आय को ठुकरा कर शुद्ध आय पर जीवन निर्वाह करने में जो आत्मीय आनन्द मिला है, वह दूसरी प्रकार से प्राप्त करना लगभग असम्भव था। अनैतिक आय से सदा भय लगा रहता है कहीं मेरी शिकायत न हो जाय, अफसर को मालूम न हो जाय आदि। वहां नैतिक नियम निभाने से निर्भीकता रहती है। मुझे अपने लिये आज कोई खतरा नहीं लगता।

अनैतिक आय से घर का फिजूल खर्च बढ़ता है। विलासिता बढ़ती है। नई नई आवश्यकतायें पैदा होती हैं और उनकी पूर्ति में इतना अधिक व्यय हो जाता है, जो शुद्ध और ऊपरी आय से भी बढ़ जाता है। कर्जदारी हो जाती है। वहां अनैतिक

आय का परित्याग कर शुद्ध आय पर जीवन बिताने से बहुत-सी झंझटें अपने आप कम हो गई हैं, और जीवन संयम की ओर मुड़ चला है। इसके अतिरिक्त मेरे इस व्यवहार का मेरे पुत्रों पर भी गहरा प्रभाव पड़ा है। यह निश्चित बात है कि शुद्ध आय पर मितव्ययता के साथ घर का कारोबार चलाने से संतति भी इसी का अनुकरण करेगी। अणुव्रत-पालन के समय से ही मेरी अल्प आय व पूर्व संचित धन के न होते हुये भी मेरे तीनों पुत्र कालेज में शिक्षा ले रहे हैं और वे अपना खर्च ट्यूशन, छात्रवृत्ति या अन्य कार्यों द्वारा पैदा कर स्वयं चला रहे हैं। यह आदर्श का ही प्रभाव है। जहां मैं सुनता हूँ, धनी और अधिक आय वाले एक या दो पुत्रों को कालेज में पढ़ाने पर भी अर्थ-कष्ट की शिकायत करते हैं। यह आज मेरे सामने नहीं है।

मुझे अपने शुद्ध उद्देश्य और दृढ़-प्रतिज्ञा-पालन से प्रेरणा मिलती है और अणुव्रत के आदर्शों की सुखानुभूति होती है।

(४८)

आत्म-सुख की झांकी

अणुव्रती बनने के बाद मुझे अपने घर में अणुव्रत पालन के सुखद एवं सफल प्रयोगों से प्रेरणा मिली है। अणुव्रत बुरी प्रवृत्तियों के त्याग और आत्म-सन्तोष की भावना का प्रेरक है। प्रायः पुरुषों को बुरी आदत की ओर ले जाने में स्त्रियों का हाथ भी रहता है। यदि नारी अपना जीवन संयमी बनाले तो उसका प्रभाव उसकी सन्तान और उसके सारे घर के लोगों पर पड़ता है। नित्य नये नये भड़कीले वस्त्र और गहनों की अनावश्यक मांग गृहपति को विवश कर इस ओर ले जाती है। उससे पुरुष

बच जाता है। नारी के संयमी जीवन से घर का वातावरण भी सुन्दर बन जाता है, अणुव्रत की भावना के बाद यह मेरी दृढ़ धारणा हो गई है।

अणुव्रती होने से मुझे अपने घर में अल्प आय के कारण कई प्रकार के फिजूल खर्चों को कम करना पड़ा है, मगर उससे मुझे दुःख नहीं हुआ है बल्कि एक आत्म-सुख की झांकी मिली है। (४८)

कुप्रथाओं से संघर्ष

सामाजिक कुप्रथाओं से समय-समय पर संघर्ष करना पड़ा है। व्रत-ग्रहण के पश्चात् प्रथा रूप से मृतक के पीछे रोने के रिवाज को नहीं निभाने से मैं अपने क्षेत्र की स्त्री-समाज में आलोचना का विषय बन गई हूँ। वे बहुत ही चकचक करती हैं। मैं तो मानती हूँ कि इस प्रकार के रोने में समय और शक्ति का दुरुपयोग करना है। इसी प्रकार दहेज, मायरा, मुकलावा की सामग्री नहीं देखने जाने व नहीं दिखाने पर भी बहिनें टीका टिप्पणियां करती हैं। मोसर व बड़े जीमनवारों में नहीं जाने पर तो बड़े ताने कसे जाते हैं। लेकिन अणुव्रती के नाते किसी पर कोई दुर्भावना नहीं होती। हंस-हंस कर सुन लेने में ही सन्तोष का अनुभव होता है।

बीस, पच्चीस वर्ष पहले मैंने पढ़ने लिखने का अभ्यास शुरु किया था—तो मेरी सहेलियां हंसती और मजाक उड़ाती थीं। इसके कारण मैं झिझक गई और मेरी प्रगति वहीं बन्द हो गई। लेकिन आज मैं देखती हूँ कि वही बहिनें अपनी पुत्रियों को पढ़ाना जरूरी समझ कर पढ़ने भेज रही हैं। इसी तरह आलोचना करने वाली बहिनें आज नहीं तो कुछ दिनों बाद अणुव्रत के आदर्श को ग्रहण करेंगी।

(३९)

नियम-निष्ठ रहने का फल

मैं सरदार शहर में अणुव्रती बनने की भावना लेकर घर लौटा। मैंने गाँव आकर अपने भागीदार के सामने अणुव्रती बनने की भावना व्यक्त की। उसने कहा—"भला यह भी कोई सम्भव बात है। आजकल के युग में व्यापार तो करो और कालाबाजार मत करो, राज्य निषिद्ध व्यापार मत करो। मैं तो इससे सहमत नहीं हो सकता।" मैंने सोचा—क्या किया जाये? आत्मा इस बुराई में फंसने की स्वीकृति नहीं देती। मेरे सामने बड़ी विकट समस्या खड़ी हो गई। आखिर मैं अपनी आत्मा की बात नहीं टाल सका और अन्य प्रान्तों में जो माल चोरी से भेजा करता था इस बुराई से बचने का निर्णय कर लिया। इस निश्चय में पार्टनर को समझाने की समस्या भी मेरे सामने थी। मेरे दृढ़ निश्चय को सुनकर वह बोला—"अगर तुम ऐसा करना नहीं चाहते तो हम तुमसे अलग होकर क्या करेंगे? आखिर सत्य तो वही है जो तुम कहते हो। चलो हम भी अब चोरी से माल नहीं भेजेंगे।" मैंने सोचा—मनुष्य में आत्म-विश्वास होना चाहिये, फिर उसके समक्ष कोई समस्या नहीं रह जाती।

अब व्यापार के लिये अपना गाँव छोड़ देना पड़ा और दूसरे गाँव में जहाँ से अन्य प्रान्त में माल भेजने पर प्रतिबन्ध नहीं था, अपना व्यापार करने लगा। अभी पांच चार दिन के बाद मुझे खबर मिलती है कि हमारे गाँव के जो लोग चोरी से दूसरे प्रान्त में माल भेजा करते थे, वे पकड़े

गये। अब मेरी व्रत-निष्ठा बढ़ने लगी। आज जब कि काला बाजार भी उठ गया है, मुझे अपने व्यापार में कोई अनैतिकता नहीं करनी पड़ती। नियम-निष्ठ रह कर मैंने पाया कि आर्थिक दृष्टि से भी मेरा स्तर पहले से कई गुना अच्छा है। गाँव के लोगों का मेरे पर विश्वास है। लगता है कि आज अणुव्रतों के बिना जीवन सूना है। आज मुझे अपने जीवन में इतना आनन्द महसूस होता है कि मैं उसे पूर्ण रूप से व्यक्त नहीं कर सकता। अपने आसपास भी मैंने कई लोगों को अणुव्रत-पालन करने की प्रेरणा देकर उन्हें इस ओर गतिमान बनाया है। अब तो मैं विशिष्ट अणुव्रती की श्रेणी में आना चाहूँगा।

(५०)

सचाई की राह पर

मेरे पास एक करोड़पति सेठ का मुकदमा आया और मैंने उसे ले लिया। मुकदमे में दोनों और सम्बन्धी ही थे। मैंने सोचा—अपने परिचित मित्र हैं। न्यायालय में खड़े होकर व्यर्थ ही तंग होंगे, अतः दोनों को समझा दिया जाय तो ठीक रहेगा। मैंने प्रयास किया और दोनों आदमी समझ गये। उन्होंने मुकदमा वापिस ले लिया। उन्होंने मेरी वकालत के १५०० रुपये दिये और बड़ी खुशी के साथ अपने घर चले गये। इधर कई दिनों के बाद उनका एक पत्र मेरे पास आता है जिसमें वे लिखते हैं—"आप बड़े ईमानदार आदमी हैं यही समझ कर हमने आपको अपना वकील बनाया था और वास्तव में ही आपने अपनी सच्चाई का परिचय देकर हमारी भलाई की। इसमें हम दोनों को ही

बड़ा फायदा हुआ। पर एक बात जो मैं आपसे कहना चाहता हूँ वह यह है कि आपने मेरा मुकदमा लड़ने के लिये जो रुपये लिये थे, उतनी आपको मेहनत नहीं करनी पड़ी। चूंकि हमने मुकदमा वापिस ले लिया था, अतः मुझे अपने रुपयों में से कुछ रुपये वापिस मिल जाने चाहियें।

मैंने पत्र पढ़ा और उसका उत्तर दिया—"आपने लिखा कि मुझे मुकदमा अधिक नहीं लड़ना पड़ा, अतः मैं आपके कुछ रुपये वापिस करदूं। सोचता हूँ कि एक वकील की दृष्टि से तो अगर मैं आपको रुपये न दूं तो आप मेरा कुछ भी नहीं कर सकते क्योंकि आप तो मुझे अपनी फीस दे चुके थे। अब जब मुकदमा थोड़ा ही चला और जल्दी उठा लिया गया तो आप मुझसे रुपये वापिस मांगते हैं। पर जरा सोचिये कि अगर मुकदमा अधिक भी चलता तो मैं आपसे अधिक फीस मांगने वाला नहीं था। मैंने आपसे पहले ही कहा था कि मैं मित्र के नाते आपका मुकदमा मुफ्त भी लड़ सकता हूं। पर आपने ही आग्रह किया था कि इतने रुपये तो मुझे ले ही लेने चाहिये। खैर, अब आप रुपये मांग रहे हैं। कारण कुछ भी हो, मैं ये रुपये आपको वापिस भेजता हूं। इस पर भी मैं आपसे नाराज नहीं हूँ। अगर इनमें से आप कुछ भी रुपया देना चाहें तो मुझे उतने ले लेने में कोई संकोच नहीं होगा और कुछ नहीं भी दें तो भी मुझे कोई नाराजी नहीं है।"

कुछ ही दिनों में उनका उत्तर आया—जिसमें उन्होंने लिखा—"आप में सचमुच मेरा बड़ा विश्वास था और वास्तव में ही आपने वैसा कर दिखाया। अब मुझे अपनी गलती पर शर्म महसूस हो रही है। दूसरों के बहकावे में

आकर मैंने यह अच्छा नहीं किया। इसके लिये आप मुझे क्षमा करेंगे और ये रुपये आपको यों के यों वापिस भेजता हूँ, उन्हें स्वीकार करेंगे।"

मैंने सोचा—सच्चाई और साफ-दिली किसी वक्त घाटे में नहीं रह सकती।

(४१)

व्रत-निष्ठा का सुपरिणाम

मैं स्थानीय गवर्नमेंट-इन्टर कालिज में मैट्रिक कक्षा में पढ़ता था। सरकार की ओर से एक ऐसा नियम है कि विद्यार्थी की अध्ययन कक्षा और खेल विभाग दोनों की उपस्थिति ७५ प्रतिशत हो तभी विद्यार्थी वार्षिक परीक्षा में शामिल हो सकता है। मेरी उपस्थिति ७५ प्रतिशत से कम थी इसलिये मैं नियम के अनुसार परीक्षा में शामिल होने का अधिकारी नहीं था। कई व्यक्तियों ने मुझे परामर्श दिया कि तुम डाक्टर को कुछ रिश्वत देकर बीमारी का सर्टिफिकेट लेकर रजिस्ट्रार को दे दो जिससे रजिस्ट्रार समझ जायेगा कि विद्यार्थी अस्वस्थता के कारण उपस्थित न हो सका। खेल विभाग के अधिकारी ने मुझसे कहा कि तुम मुझे १०० रुपये दे दो, मैं तुम्हारी सम्पूर्ण उपस्थिति भर कर रजिस्ट्रार को भेज दूँगा।

मैं अपने व्रतों पर दृढ़ था। उनको तोड़कर परीक्षा में शामिल होना मेरे लिये कोई महत्त्व नहीं रखता था। मुझे गलत परामर्श देने वालों को भी मैंने यही बात कही कि इस तरह का अनर्थकारी कार्य करना मुझे उपयुक्त नहीं जंचता।

अधिकारियों ने मेरी दोनों विभागों की उपस्थिति रजिस्ट्रार को भेज दी और परीक्षा में शामिल होने के अयोग्य

बतलाया। मैंने मन ही मन सोचा, जो कुछ भी हो, चाहे मेरा एक साल व्यर्थ चला जाये पर मैं नियम पर दृढ़ रहूँगा। चाहे वह परीक्षा न भी दे सकूं पर मेरी व्रत-निष्ठा की तो परीक्षा हो ही रही है।

मेरी व्रत-निष्ठा का प्रतिफल मुझे शीघ्र ही मिल गया। दूसरे व्यक्ति द्वारा मेरी सारी स्थिति बताने पर रजिस्ट्रार ने मुझे परीक्षा में शामिल होने की अनुमति दे दी। मैं परीक्षा में शामिल हुआ और आशातीत नम्बरों के साथ उत्तीर्ण हुआ। इस घटना से मेरी व्रत-निष्ठा को अतीव बल मिला। अब तो मैं यह समझने लगा हूँ कि यदि व्यक्ति का आत्मबल मजबूत रहे तो व्रतों के पालन में आने वाली कठिनाइयों का अन्त अपने आप हो जाता है।

(४८)

चुनावों में नैतिकता

मैं कुछ मित्रों के अनुरोध से देहली नगरपालिका के चुनावों में खड़ा हुआ। मैंने अपने अभिकर्ताओं (एजेन्टस्) को सम्मिलित कर स्पष्ट रूप से कह दिया—आप कहीं भी प्रतिपक्षी उम्मीदवार की आलोचना व निन्दा न करें। मेरी श्लाघा में भी अतिशयोक्तिपूर्ण प्रचार न करें। किसी भी मतदाता से मत खरीदने की कोशिश न करें। मैं अणुव्रती हूँ, मेरे लिये हार-जीत का प्रश्न दूसरा है, नैतिकता का पहला।

कुछ परिस्थितियाँ आईं कि थोड़े से प्रलोभन से सैकड़ों मत (वोट) मिल रहे थे। मेरे लिये उनकी कीमत हजारों मतों से भी अधिक थी। चारों ओर से मेरे ऊपर उनको

खरीदने के लिये प्रभाव पड़ा। मैंने सोचा यही तो मेरे अणुव्रती होने की कसौटी है। अब भी यदि मैं फिसल गया तो मेरे व्रत-ग्रहण का अर्थ ही क्या ? मैंने वैसा नहीं किया।

पोस्टर चिपकाने के लिये लेही की आवश्यकता पड़ी। घर में मैदा नहीं था। बाजार से ब्लैक के बिना मिलता नहीं था। बाजार से ब्लैक देकर खरीदना सिद्धान्त प्रतिकूल था। अतः समस्या हो गई पोस्टर कैसे चिपकाये जायें ? आखिर मेरे ड्राइवर ने कहा—मेरे घर में भी थोड़ा मैदा पड़ा है उसे काम में ले लिया जाये। यह उपाय मुझे पसन्द आया। वह मैदा मेरे पोस्टर चिपकाने के काम आया और जब मुझे परमिट से दुबारा मैदा मिला तब मैंने जितना मैदा ड्राइवर से लिया था उतना वापस कर दिया।

(५२)

चालीस हजार की पगड़ी

देहली में हमारा नया मकान बना। उसमें ८ दुकानें किराये पर देने की थी। दुकानों के लिये पाँच-पाँच हजार रुपये पगड़ी देने वाले व्यक्ति आये। यदि पगड़ियाँ ली जातीं तो चालीस हजार रुपये अनायास ही मिल जाते जो मकान बनाने की रकम से आधे के बराबर हो ही जाते। मकान मेरा व्यक्तिगत नहीं था, सभी पारिवारिक जनों का था। मैं और मेरी पत्नी के सिवाय दूसरे भाई अणुव्रती नहीं थे। पर अणुव्रतों का प्रभाव उन पर था, इसलिये हमारा यह सर्व सम्मति से निर्णय हुआ हमें पगड़ी नहीं लेनी है। तदन्तर सारी दुकानें बिना पगड़ी लिये यथोचित किराये पर दे दी गई।

(४४)

वस्त्र-संयम

अणुव्रती होने के बाद वस्त्र-संयम की दिशा में मैंने अपने आपको कुछ साधा है। पहले पहल मैंने अपनी आवश्यकताओं को घटाकर एक वर्ष में २०० रुपये से अधिक का कपड़ा न खरीदने का संकल्प किया था। दूसरे वर्ष उसे घटाकर ६० रुपये तक ले आया। इस वर्ष २५ रुपये से अधिक का कपड़ा काम में न लाने का संकल्प किया है। मुझे इस संयम से आनन्द मिला है। मुझे लगता नहीं मेरे लिये इतना वस्त्र बहुत कम है।

(४५)

हल है हल्कापन जीवन का

आचार्य श्री तुलसी के प्रवचनों में मैंने सुना यदि सुख चाहते हो तो जीवन को सादा और हल्का बनाओ। मैं अणुव्रती बना, खान-पान व रहन-सहन आदि जीवन के विभिन्न पहलुओं में सादगी आने लगी। थोड़े से हेर-फेर में काफी अनावश्यक भार मिट गया। जितने व्यय में एक महीना गुजरता उतने ही व्यय में दो महीने गुजरने लगे-जीवन हल्का लगने लगा। मन को संभाल लेने के कारण घरेलू झगड़े भी कम होने लगे।

मैं कलकत्ता में हुण्डी चिट्ठी की दलाली करता हूँ। पहले तो सबकी तरह मैं भी चलती बात कर ही लेता था अब असत्य का पूरा बचाव करता हूँ। व्यर्थ की सफाई कहीं नहीं लगाता परिणामतः लोगों में मेरी भलाई की छाप पड़ी है और इससे मेरे व्यवसाय को भी बल मिला है।

(५६)

मैं झूठ बोला था

सम्वत् २०१० में आचार्य श्री तुलसी ने राणावास (राजस्थान) में सहस्रों की परिषद् में आह्वान किया—मैं चाहता हूँ कि कम से कम ६ व्यक्ति ऐसे हों जो आगामी वर्ष के लिये व्यवसायादि कार्यों से निवृत्त रहकर पूरा समय अणुव्रत-साधना और अणुव्रत-विस्तार में लगायें। उस प्रेरणा से प्रभावित होकर अन्य व्यक्तियों के साथ मैंने भी वैसा संकल्प किया। उस बात को लगभग तीन वर्ष हो गये। मुझे लगता है—अणुव्रत कार्य में मेरा जीवन दान ही हो गया है। आगे से आगे आकर्षण बढ़ता ही जा रहा है।

कुछ दिनों पूर्व हम अणुव्रत-कार्य के लिये आसाम गये थे। एक दिन मोटर कार में हम एक गाँव को जा रहे थे। जंगल में सड़क पर एक मोटरकार रुकी पड़ी थी। एक सज्जन ने हमें रोककर पूछा—आपके पास पेट्रोल है? बिना कुछ सोचे समझे मेरे मुँह से निकल पड़ा—जी! नहीं है। हालांकि हमारे पास पेट्रोल की टंकी भरी थी। हम आगे चल पड़े। वहाँ से चलते ही विचारों में द्वन्द्व उठा। मैं अणुव्रती था और इतनी-सी बात के लिये झूठ बोल गया। आखिर वह सज्जन भी तो कष्ट में था। इसलिये वह हमारे से पेट्रोल मांग रहा था। सोचने लगा—अब क्या किया जाये? हो गया सो तो हो ही गया। पर आत्मा को इस बात से सन्तोष नहीं मिला। मानसिक बेचैनी इतनी बढ़ गई कि आगे चलना मेरे लिये एक समस्या बन गई। लगभग दो माइल से हम वापस लौटे। वह सज्जन वहीं खड़ा था। मैंने उससे क्षमा-याचना कर कहा—मैं झूठ बोला था।

हमारे पास पेट्रोल बहुत है, आप चाहें जितना लें। इस प्रकार जीवन में अनेकों प्रसंग आते रहते हैं जिनमें "मैं अणुव्रती हूँ" इस स्मरण मात्र से आत्मा सजग हो जाती है और दोष से बचने का प्रयत्न करती है।

(४७)

जब मैं अणुव्रती नहीं था

मैं सम्पन्न परिवार में पैदा हुआ था। युवावस्था के श्रीगणेश में ही व्यावसायिक क्षेत्र में दायित्वपूर्ण काम करने लगा। मन की चाह पूरी करने में पारिवारिक-जनों का मेरे पर कोई नियंत्रण नहीं था। ऊपर में सौ सौ रुपये गज तक के कपड़े पहनता, बीस-बीस, पचीस-पचीस रुपयों में विलायती जूते खरीदता जबकि उस समय दो तीन रुपयों में मिलने वाली जूतों की जोड़ी कीमती मानी जाती थी। कोट, कमीज और धोतियों आदि कपड़ों के ढेर लगे रहते थे। दिन में पाँच २ सात २ पोशाकें बदल लेता था। उसी अनुपात से खाने-पीने आदि को लेकर मेरे अनेक फिजूलखर्चियां थीं। हीरे, मोती आदि के आभूषण भी बहुत पहनता था। भांग पीने का भी काफी शौक था। गुस्सा इतना आता था कि थोड़ी सी-गैर वाजिब बात पर लड़ने को उतारू हो जाता था।

जब मैं अणुव्रती बना

आचार्य श्री तुलसी के पवित्र सत्संग में रहते रहते मेरे जीवन में परिवर्तन आया। सन् १९५१ में मैं अणुव्रती बना। आज की स्थिति यह है वे बेशकीमती पोशाकें सन्दूकों में भरी पड़ी हैं। पहनना तो दूर उन्हें आँखों से देखना भी आत्मा को रुचिकर प्रतीत नहीं होता। [illegible]

हूँ और एक साथ तीन चार से अधिक धोतियां एकत्रित नहीं करता। अन्य कपड़ों के विषय में भी यही प्रवृत्ति रहती है कि आवश्यकताएँ कम रहें और कपड़ों का एक साथ संग्रह न किया जाये। खान-पान का भी क्रम बदला है। इच्छा और प्रवृत्ति यही रहती है कि एक ही शाक से मनुष्य रोटी खा सकता है तो क्या जरूरी है कि भोजन के समय पांच प्रकार के शाक हों ही। इस परिवर्तन में मुझे शान्ति व आनन्द मिला है, न कि मानसिक दैन्य। मैं मानता हूँ कि साधना के मार्ग पर जितना मुझे बढ़ना है उसे देखते हुए मैं बहुत थोड़ा बढ़ पाया हूँ।

(५८)

सांच को आंच नहीं

एक दिन सेल्सटेक्स इन्सपेक्टर मेरी दुकान पर आया। उसने कुछ कपड़ा खरीदना चाहा। पर जो कपड़ा वह चाहता था वह पहले ही स्टेशन मास्टर द्वारा खरीदा जा चुका था। अतः मैंने कहा—आप दूसरा जो चाहें कपड़ा खरीदें पर यह मैं आपको कैसे दे सकता हूँ? सेल्सटेक्स इन्सपेक्टर कुछ गर्म हुआ और चला गया।

हर वर्ष की तरह इस बार भी सेल्सटेक्स आफिसर को अपने बही-खाते दिखाये। आफिसर बही-खाते देखकर ज्योंही फैसला लिख रहा था त्योंही वह इन्सपेक्टर बीच में आया और बोला—मैं इस फर्म की इन्क्वायरी लूंगा। आफिसर ने कहा—जो व्यक्ति इतना टेक्स देता है क्या उसके घोटाला निकलेगा? इन्सपेक्टर नहीं माना। आफिसर ने कह दिया—लो इन्क्वायरी करलो।

हमारा सारा मामला सेलसटेक्स आफिसर से हटकर इन्सपेक्टर के हाथ में आ गया। इन्सपेक्टर आये दिन बड़ा तंग करता। समय असमय वह बुला लेता। इन्क्वायरी के बीच मुझे यह देखकर और भी आश्चर्य हुआ कि दुकान पर माल कब आया, अहमदाबाद का माल कब आया, बम्बई से माल कब आया और कितना आया तथा कितना कब कब बेचा सारी तारीखें उसके पास गुप्त रूप से संगृहीत थीं। उसके पास इसका भी सारा ब्यौरा था कि म्युनिसिपल कमेटी का टर्मिनल टेक्स भी कब दिया और कितना दिया। काफी समय तक वह अच्छी तरह से बही-खातों को देखता रहा।

हमारी सफाई और ईमानदारी से आखिर उसका भी हृदय बदला। उसने हमें तंग करना छोड़ दिया और इन्क्वायरी की समाप्ति भी उसने इन शब्दों में लिख कर की—मैंने इस फर्म के बही-खाते बड़ी सावधानी से देखे हैं। इसमें कहीं भी गोल माल नहीं मिला। उससे हमें भी बल मिला—"साँच को आँच नहीं।"

(५६)

नब्बे हजार की एक पगड़ी

नया बाजार (दिल्ली) के जिस मकान का मैं किरायेदार था वह मैंने ६५ हजार रुपयों में खरीद लिया। नीचे के भाग में मेरी दुकान है। दो दुकानें वहां किराये दी जा सकती हैं। किरायेदार आते हैं पगड़ी देने की कहते हैं। ऊपर में तीनों दुकानों की ९० हजार रुपयों तक की पगड़ी देकर भी दुकानें किराये लेना चाहते हैं। सगे सम्बन्धी व मित्र भी सलाह देते हैं मौका चूकना नहीं चाहिये। ९० हजार मिलते हैं और

मकान भी आखिर तुम्हारा ही रह जाता है। मैं कहता हूँ पगड़ी लेना मैं निर्दय समझता हूँ। पैसे के लिये निर्दय कार्य मैं हर्गिज नहीं करूँगा। अणुव्रती का यही धर्म है।

सत्य पर आग्रहपूर्वक चलने वालों के सामने कठिनाइयाँ आती हैं पर वे कभी कभी सुगमता भी हो जाती है। एक बार इन्कमटैक्स आफिसर ने टैक्स जुर्माना आदि करके मेरे पर १००) निरर्थक लगा दिये। मैंने मामला लड़ा। लोगों ने कहा जितने का मामला है उससे ज्यादा तुम्हारा खर्च हो सकता है। मैंने कहा--मैं रुपयों के लिये मामला नहीं लड़ता मैं तो अपने को सत्य प्रमाणित करने के लिये ऐसा कर रहा हूँ। हाकिम ने कहा—इतना छोटा मामला क्यों लड़ते हो? मैंने कहा--१००) देकर मैं चोर बनूँ यह मुझे मंजूर नहीं। आखिर मामला मेरे पक्ष में हुआ। इसके बाद इन्कम आफिसर मुझे पहचान गये। मेरे बही खातों में कभी संदेह नहीं करते और न मैं भी उनमें संदेह जैसी बात रखता हूँ।

ॐ समाप्तम् ॐ